पं0 दीनदयाल उपाध्याय जन्मशताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में प्रकाशित

एकात्म मानववाद : विभिन्न आयाम

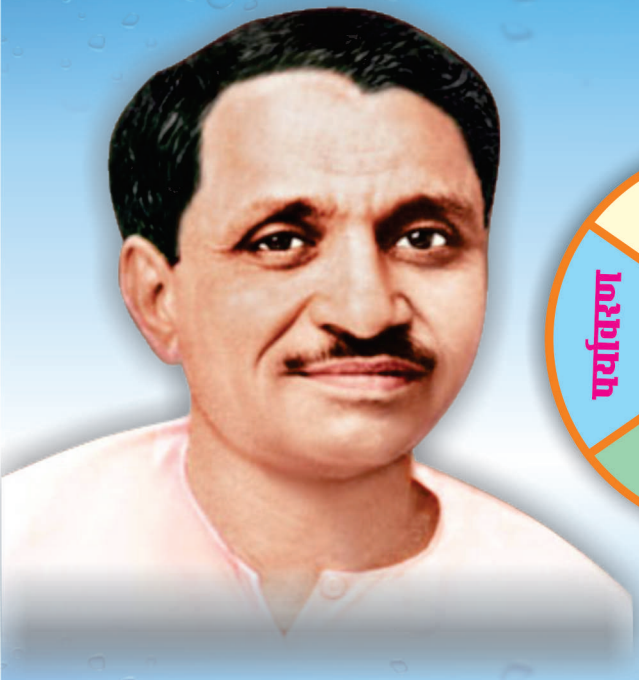

प्रकाशक
अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ

एकात्म मानववाद : विभिन्न आयाम

संपादक
डॉ. चन्द्र प्रकाश सिंह

विषय-सूची

1.	सम्पादकीय	v
2.	एकात्म मानववाद एवं आर्थिक विकास डॉ. सुब्रह्मण्यम स्वामी	1
3.	एकात्म मानववाद : राजनीतिक आयाम डॉ. महेश चन्द्र शर्मा	22
4.	एकात्म मानववाद : आर्थिक आयाम डॉ. बजरंग लाल गुप्ता	41
5.	प्राच्य भारतीय शिक्षा पद्धति एवं वर्तमान परिदृश्य सुश्री इन्दुमति काटदरे	58
6.	एकात्म मानववाद : विधिक आयाम प्रो0 हरबंश दीक्षित	78
7.	इक्कीसवीं सदी में एकात्म मानववाद की प्रासंगिकता डॉ. महेश चन्द्र शर्मा	84
8.	दीनदयाल उपाध्याय के चिन्तन की प्रासंगिकता डॉ. कुलदीप चन्द्र अग्निहोत्री	92
9.	एकात्म मानववाद की आधार परिवार संस्कृति प्रो0 गिरीश चन्द्र त्रिपाठी	99

सम्पादकीय

एकात्म मानव दर्शन भारतीय समाज के लिए कोई नवीन चिंतन नहीं है। यह भारत की जीवन दृष्टि है। यह भारत की स्वतः स्फूर्त सहज चेतना है। भारत एकात्म है और जो एकात्म है वही भारत है। इतिहास साक्षी है कि भारत में एकात्म भाव का सुप्त होना ही उसके लिए संकट का कारण बना। समाज जीवन में इस एकात्मता की सुप्तता ने ही विदेशी शक्तियों को भारत की राज्य सत्ता पर अधिकार ज़माने का अवसर प्रदान किया और अधिकार जमाने के बाद विदेशी शक्तियों ने इस एकात्मता की चेतना को खंडित करने के लिए अपने राज्य शक्ति का प्रयोग किया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् जब स्वकीय सत्ता की भारत में स्थापना हो गई तब यह स्वाभाविक था कि भारत की शासन व्यवस्था, अर्थव्यवस्था, शिक्षा व्यवस्था, विधि व्यवस्था यानी राष्ट्र जीवन के सम्पूर्ण ताने-बाने की रचना एकात्मता की चेतना के आधार पर हो। परन्तु यह दुर्भाग्य रहा कि स्वतंत्रता के पश्चात् जो नेतृत्व सामने उभर कर आया वह स्वयं भारत की एकात्म चेतना से शून्य था। यही कारण था कि नव-रचना के जो उपादान खोजे गए या गढ़े गए उसमें भारत की रीति, नीति, परंपरा, प्रकृति और परिवेश का न कोई ध्यान रखा गया और न ही प्राचीन काल से विकसित राष्ट्र जीवन के आयामों को यथोचित स्थान प्राप्त हो सका। समाजवाद और पूँजीवाद जैसी विदेशी विचारधाराओं के आधार पर नये भारत के निर्माण की कोशिश प्रारम्भ हो गई। ऐसा लगा मानो भारत का अपना कोई आर्थिक, विधिक, शैक्षणिक और राजनैतिक चिंतन ही न रहा हो और यदि कुछ रहा भी है तो वह वर्तमान समय के लिए उपयुक्त नहीं है।

बढ़ाने वाले मार्ग की तलाश की जाये। ऐसी परिस्थिति में पं. दीनदयाल उपाध्याय जी द्वारा सन् 1965 में प्रस्तुत किये गए देशज, समग्र एकात्म चिंतन अर्थात् एकात्म मानववाद की प्रासंगिकता और बढ़ जाती है। दीनदयाल जी अल्प समय में एकात्म मानववाद की मात्र आधारभूमि ही तैयार कर सके थे तभी उनका असामयिक एवं अस्वाभाविक महाप्रस्थान हो गया। उनके द्वारा प्रस्तुत सूत्रों के आधार पर वर्तमान चुनौतियों के सन्दर्भ में भारतीय ज्ञान परंपरा के आलोक में विद्वतजनों द्वारा व्यापक कार्य की आवश्यकता है।

सन 2015 में एकात्म मानववाद के प्रतिपादन का अर्धशताब्दी वर्ष था, जबकि सन 2016 दीनदयाल उपाध्याय जी का जन्म शताब्दी वर्ष है। अतः ये दोनों वर्ष एकात्म मानववाद के स्मरण और आगे बढ़ाने की दृष्टि अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। देश की नीतियों के निर्धारण का आधार एकात्म मानव दर्शन तभी बन सकता है जब विश्वविद्यालयों में विविध क्षेत्रों में इस पर व्यापक शोध-कार्य हो। इसके लिए आवश्यक है कि एकात्म मानव दर्शन पर चर्चा विश्वविद्यालयों में प्रारंभ हो। अरुंधती वशिष्ठ अनुसन्धान पीठ के संस्थापक प्रेरणा स्रोत श्रद्धेय अशोक सिंहल जी की इसी भावना को ध्यान में रख कर अनुसन्धान पीठ द्वारा इलाहाबाद, वाराणसी, दिल्ली, भोपाल आदि स्थानों पर एकात्म मानववाद के विभिन्न आयामों अर्थ-व्यवस्था, शिक्षा, विधि, राजनीति आदि पर संगोष्ठियों का आयोजन किया गया, जिसमें एकात्म मानव दर्शन का अनुशीलन और चिंतन करनेवाले देश के जाने-माने विद्वान सम्मिलित हुए। उनमें से कुछ प्रमुख विद्वानों के विचार इस पुस्तक में प्रस्तुत किये जा रहे हैं। आशा है यह प्रयत्न एकात्म मानव दर्शन के विचार को आगे बढ़ाने में किंचित मात्र सहायक सिद्ध होगा।

गंगा दशहरा, 14 जून 2016

चन्द्र प्रकाश सिंह

(डॉ. चन्द्र प्रकाश सिंह)

एकात्म मानववाद एवं आर्थिक विकास

डॉ0 सुब्रह्मण्यम स्वामी[1]

1969 में भारतीय जनसंघ के पटना सत्र में मेरे द्वारा प्रस्तुत 'स्वदेशी योजना' ने वामपंथियों को उत्तेजित किया। यह एक बेहद संवेदनशील राष्ट्रीय घटना थी, तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी, जो उस समय वित्त विभाग भी अपने पास रखती थीं, 4 मार्च, 1970 को लोकसभा के सदन में 1970-71 के बजट अधिवेशन की बहस के दौरान स्वदेशी योजना की निंदा कर मुझे 'खतरनाक' की संज्ञा दी। श्रीमती इंदिरा गांधी मेरी थीसिस के खिलाफ थीं, जिसके अनुसार अगर भारत प्रतिस्पर्धा बाजार की आर्थिक प्रणाली के लिए समाजवाद को छोड़ दे तो भारत में प्रतिवर्ष 10 प्रतिशत की वृद्धि से बढ़ने, आत्म-निर्भरता हासिल करने और परमाणु हथियारों के उत्पादन की क्षमता प्राप्त कर सकता है।

1970 के दिनों में कुछ चुनिंदा लोग ही समाजवाद के खिलाफ प्रश्न उठाने की सामर्थ्य रखते थे। पूरा का पूरा वामपंथी बुद्धिजीवियों का मोर्चा मेरे खिलाफ खड़ा था, क्योंकि मैं सोवियत आर्थिक मॉडल को भारत के लिए आपदा के रूप में खारिज करता था। भविष्य में 1991 के वित्तीय संकट में मैं सही साबित हुआ। जब वाणिज्य मंत्री के रूप में, मेरे द्वारा पेश किया गया आर्थिक सुधारों की रूपरेखा का ब्लूप्रिंट नरसिम्हा राव की सरकार के द्वारा अपना लिया गया। आर्थिक मंदी से उबरकर अर्थव्यवस्था में अप्रत्याशित उछाल देखा गया।

---

[1]प्रसिद्ध अर्थशास्त्री, सदस्य राज्यसभा, पूर्व विधि एवं न्याय मंत्री-भारत सरकार, अध्यक्ष अरुन्धती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ

मानवता के साथ खिलवाड़ किया है।'' (इंटिग्रल ह्यूमनिज्म, नवचेतन प्रेस, दिल्ली, 1965, पृ. 76)

दीनदयाल जी ने लोकतांत्रिक या 'गांधीवादी' समाजवाद को भी खारिज किया है, जो मानव के महत्त्व को प्रस्तुत करने में असमर्थ रहा है। उन्होंने कहा है, ''व्यक्ति की आवश्यकताओं और मान्यताओं को समाजवादी प्रणाली में उतना ही महत्त्व है, जितना जेल मैनुअल में होता है। गुरुजी के विचारों को ध्यान में रखते हुए ('बंच ऑफ थॉट्स', पृष्ठ 13) कि वर्ग-संघर्ष का विचार, जो समाजवाद में सन्निहित है, मानव विरोधी है। इसके बजाय वर्ग-सद्भाव और विवाद का हल ढूँढ़ना मानव की मूल प्रवृत्ति है। गुरुजी ने कहा है कि समाजवादी अवधारणा सर्वहारा वर्ग की तानाशाही ही नहीं, बल्कि 'एक तानाशाह पार्टी के तानाशाह की तानाशाही है।'

आज हम दीनदयाल जी के जन्मशताब्दी वर्ष के अवसर पर यह दावा करते हुए गौरवान्वित महसूस करते हैं कि उन्होंने देश को अपने एकात्म दृष्टिकोण द्वारा आर्थिक उन्नति की ओर अग्रसर करने में नई दिशा प्रदान की है- अर्थात् आर्थिक व्यवहार को आध्यात्मिक मूल्यों के साथ समावेश करने से एक खुशहाल समाज का उदय होगा। अपने देश में हमें अपनी आर्थिक नीतियों एवं इनके दिशा-निर्देशों का समावेश करना होगा। वह समय अब दूर नहीं है, जब जनादेश द्वारा शासन की नई प्रणाली से यह संभव हो सकेगा।

बाद में जब मैं 'दीनदयाल अनुसंधान संस्थान' (1971-75) का सचिव बना, तब मेरे लिए यह स्पष्ट हो गया कि दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानववाद पर गुरुजी के विचारों का प्रभाव था और साथ ही दत्तोपंत ठेंगड़ी द्वारा रचित 'एकात्म मानववाद, एक अध्ययन' (राष्ट्र-धर्म पुस्तक प्रकाशन, लखनऊ, 1970) और उनके 'आर्थिक व्यवस्था की भारतीय संकल्पना' (द पर्सपैक्टिव, साहित्य सिंधु पब्लिशर, बेंगलुरू, 1971 में प्रकाशित), जिसमें ठेंगड़ी जी ने गुरुजी के प्रवचनों को, जो उन्होंने निधन से पूर्व थाणे, महाराष्ट्र में 1973 में दिए थे, बड़े संक्षेप में वर्णन किया था। ये लेख 'ऑर्गेनाइजर' साप्ताहिक में छपे थे, जो दत्तात्रेय होसबले जी ने मेरे लिए पुनः

'बंच ऑफ थॉट्स' (अध्याय 1पृष्ठ 5) में कहा है, ''सभी प्रयास और प्रयोग अब तक भौतिकवाद पर आधारित थे। जबकि हम हिंदुओं के पास समाधान उपलब्ध हैं। गुरुजी ने इसी संदर्भ में काफी जोर दिया कि 'स्वावलंबन या आत्म-निर्भरता एक स्वतंत्र और समृद्ध राष्ट्र की रीढ़ की हड्डी हैं।...' (पृष्ठ 313) और कम-से-कम 'आत्मपूर्ति' (खाद्य उत्पादन में आत्म-निर्भरता) हमारे राष्ट्र सुरक्षा के लिए बेहद जरूरी है।''(313)

स्वावलंबन और आत्मपूर्ति में यह अंतर है कि पहले की यह मान्यता है कि हमें अपने स्वयं के संसाधनों पर निर्भर रहना चाहिए, यानी अगर किसी वस्तु की कमी हो गई है तो हमें निर्यात से कमाई हुई विदेशी मुद्रा से उसे आयात करें। इसका तात्पर्य है कि हमें अपने संसाधनों पर निर्भर रहना चाहिए। दूसरे, आत्मपूर्ति की अवस्था में हमारे देश में पर्याप्त मात्रा में उत्पादन हो कि हमें किसी प्रकार की कमी न हो, हमें केवल अपने स्वयं के स्वदेशी उत्पादन पर निर्भर रहना चाहिए। आज हम पाते हैं कि हमारा राष्ट्र खाद्य आत्म-निर्भरता (आत्म-पूर्ति) से हटकर फिर से विदेशों से आयात पर निर्भर हो गया है। किसान आत्महत्या कर रहे हैं, कृषिभूमि रसायन और विदेशी बीजों के प्रयोग से कम उत्पादक और बंजर हो गई है। गुरुजी की उस समय चेतावनी थी- हमें अपनी आर्थिक नीति को खाद्य पदार्थों के उत्पादन के उद्देश्य को पूरा करने के लिए व आत्म-निर्भरता की ओर बढ़ने के लिए जैविक खेती, वन ऊर्जा और सहकारी प्रयास के रूप में पर्यावरण के अनुकूल बनानी चाहिए।

दीनदयाल जी ने 'आर्थिक नीति के भारतीय उद्देश्य, किस प्रकार विदेशी विचारधाराओं पूँजीवाद, समाजवाद और साम्यवाद से अलग हैं, इसको उजागर किया। दीनदयाल जी ने चातुर्विध पुरुषार्थ के आत्मसात् एवं समन्वय के आधार पर 'एकात्म मानव' की परिकल्पना को प्रतिपादित किया, जिसे उन्होंने अपने एकात्म मानववाद में विस्तृत अवधारण के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने चिति, जो राष्ट्र की आत्मा है, की अवधारणा को प्रस्तुत किया, जिसका प्रत्येक राष्ट्र को अपनी आर्थिक नीतियों के सही निर्माण के निर्णय करने के लिए पता होना चाहिए। राष्ट्र की चिति की

आर्थिक नीति का संक्षेप में वर्णन करने के लिए उपयुक्त हैं।

दीनदयाल जी एकात्म चिंतन की आवश्यकता पर बल देते थे, जिसे आज फैशन के रूप में पश्चिम में 'प्रणाली विश्लेषण या समग्र दृष्टिकोण' कहा जाता है। उन्होंने जीवन में 'परस्पर पूरकताओं' को पहचान कर आदमी को स्वाधीन करने की आवश्यकता पर बल दिया है। आदमी अपने आप में स्वयं या अकेला नहीं है। दीनदयाल जी ने अपने तर्क द्वारा वर्ग-संघर्ष को अस्वीकृत करते हुए वर्तमान में पश्चिम में प्रचलित संघर्ष के संकल्प और वर्ग सद्भाव, जिससे पूंजीवाद के कारण तेजी से मोहभंग हो रहा है पर विचार की आवश्यकता की बात कही। उसी तरह गुरुजी ने साम्यवाद के 'सर्वहारा वर्ग की तानाशाही' पर कटाक्ष किया है। उनके अनुसार यह वास्तव में 'एक तानाशाह पार्टी के तानाशाह की तानाशाही है।' (पृष्ठ 13) यह कितना अकाट्य सत्य है!

यदि हम पश्चिम की तरह सामाजिक तनावग्रस्त नहीं होना चाहते, तो वह रास्ता जो हम वर्तमान में चुन चुके हैं, अर्थात् नेहरूजी का बनाया हुआ मार्ग पूरी तरह से त्याग देना होगा। सिर्फ आंशिक रूप से छोड़ने से वह राष्ट्रहित के लिए अच्छा न होगा। भौतिकावादी पूँजीवाद का विकल्प साम्यवाद नहीं है, क्योंकि कम्युनिस्ट देशों में भी 'अलगाव, और शोषण' की समस्या पायी गयी है, जो कि हाल ही में विभिन्न तथ्यों द्वारा उजागर हुआ है।

दीनदयाल जी को 1965 के शुरुआती दिनों में ही कम्युनिस्ट अधःपतन की जानकारी हो गयी थी। तार्किक रूप से, कोई भी प्रणाली, जो मानव की प्रधानता स्वीकार नहीं करती, अंत में पतन की ओर अग्रसर होती है।

दीनदयाल जी, कम्युनिस्ट देशों की स्थिति स्पष्ट करने के लिए 'दि न्यू क्लास' के लेखक एम. दिजिल्स का हवाला देते हैं कि 'नौकरशाहों, शोषकों का एक नया वर्ग अस्तित्व में आ गया है।'

इस प्रकार अपने एकात्म मानववाद को पेश कर दीनदयाल उपाध्याय जी ने दुनिया के सामने एक नया मौलिक वैकल्पिक वैचारिक ढाँचा रखा है। एकात्म मानववाद में सन्निहित बिलकुल अलग तरह के मौलिक आर्थिक नीति के इस ढाँचे को स्वीकार करते हुए मैं संदर्भ के लिए, विभिन्न वैकल्पिक विचारधाराओं के संरचनात्मक मापदंड जैसे, उद्देश्यों, प्राथमिकताओं,

lwph fopkj/kkjk rkfydk				
vk;ke	iwathokn ¼,Me fLeFk½	lektokn ¼gjkYM yLdh½	lkE;okn ¼dkyZ ekDlZ½	,dkRe ekuookn ¼nhun;ky mik/;k;½
1. उद्देश्य	तीव्रतम–ऊर्जा से अधिकतम लाभ और अधिकतम उपभोग	अधिकतम भौतिक कल्याण और आपदा के विरुद्ध बचाव	अधिकतम उत्पादन	राष्ट्रीय विकास का अनुकूलतम संश्लेषण और वैश्विक कल्याण, स्वावलंबन (आत्मनिर्भरता)
2. प्राथमिकताएँ	तीव्रतम ऊर्जा से संसाधनों का शोषण	वेतन, पेंशन और बेरोजगारी की न्यूनतम भौतिक मानक की आश्वस्ति	राज्य के लिए धन के निष्कासन के लिए जनता का व्यवस्था आधारित प्रपीड़न की प्रधानता	चतुर्विध पुरुषार्थ के संतुलित विकास द्वारा मानव की प्राथमिकता (अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष)
3. विकास रणनीतियाँ	श्रम बचत की पूँजी–प्रधान तकनीकी की प्रधानता, जो शक्ति दुनिया भर में मुक्त व्यापार का उपभोग करे	उच्च नियंत्रण का राष्ट्रीयकरण और आवश्यक वस्तुओं का सार्वजनिक वितरण	उत्पादन के हर क्षेत्र में पूर्ण स्वामित्व . विदेशी व्यापार हतोत्साहित	विवाद का समाधान और पूरकताओं के द्वारा सामंजस्य

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि संपूर्ण मानवता और मानव विकास का विचार एकात्म मानववाद को छोड़कर किसी भी विचारधारा या प्रणाली में नहीं किया गया है। सम्पूर्ण मानवता स्पष्ट रूप से या परोक्ष रूप से इन व्यवस्थाओं के अधीन है। साम्यवाद के अंतर्गत मानव को स्पष्ट रूप से व्यवस्था के अधीन राज्य के हित में काम करना है। राज्य हित में बल प्रयोग या जोर जबरदस्ती वैध है। यहाँ तक कि आजीविका या व्यवसाय, काम करने का स्थान, उन्नति के अवसर, यह सब राज्य द्वारा कड़ाई से निर्धारित होते हैं। ऐसे देशों में मानव के लिए कुछ भी करने का अधिकार या उस प्रणाली से बाहर निकलने के विकल्प के लिए जगह नहीं है, क्योंकि उसे देश से बाहर यात्रा करने की अनुमति भी नहीं है।

पूँजीवाद में व्यक्ति को 'मनोनुकूल कार्य करने' की तकनीकी स्वतंत्रता हो सकती है, लेकिन वह तंत्र उसकी विविध प्रकार की क्षमताओं और कुशलता को व्यवस्था के साथ समायोजित करने में विफल है। जंगल के कानून में योग्यतम ही अस्तित्व में रह सकता है, कुछ ही ऐसे होते हैं जो महान् उन्नति हासिल करते हैं, अन्य अक्षम या कमजोर को रौंद डाला जाता है, इसे ही 'चूहा-दौड़' कहते हैं। जब से केवल नयी और अद्यतन तकनीकी द्वारा अधिकतम लाभ संभव हुआ है, तब से मनुष्य तकनीकी की भयावह मांग के समायोजन के लिए है, बजाय मनुष्य की एकात्म आवश्यकताओं के अनुसार तकनीकी को समायोजित करने के। ऐसे में संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे विकसित पूँजीवादी देश साक्षी हैं कि वहाँ घर-घर में विघटन/अलगाव, तलाक की उच्च दर, पारिवारिक जीवन नष्ट हो चुका है। क्योंकि वहाँ तकनीकी ने बढ़ते हुए मांग को बनाये रखने के लिए उथल-पुथल मचा दिया है। अतः मनुष्य इन माँगों के अनुकूल ढल जाये या विनष्ट हो। इस तरह का विकास एक ऐसी व्यवस्था के लिए अनिवार्य है जिसमें श्रमशक्ति का अभाव मशीनों की रचना का मार्गदर्शक कारक हो।

इस तरह पूँजीवाद में, अहस्तक्षेप नीति के अंतर्गत, यद्यपि मानव को तकनीकी स्वतंत्रता है, परन्तु विकास रणनीति प्रौद्योगिकी की प्रधानता देने की है, इसलिए परोक्ष रूप से मानव व्यवस्था के अधीन हो जाता है। ऐसे

9 प्रतिशत हो गई।

इस प्रकार, सोवियत संघ की रणनीति के परिणाम जनता द्वारा जुटाए संसाधनों या राष्ट्र की भावी विकास क्षमता के अनुरूप कदापि नहीं पाए गए। 1947 से 1991 तक भारतीय अर्थव्यवस्था प्रतिवर्ष 4 प्रतिशत औसत की दर से बढ़ी, जबकि इस अवधि में अलग रणनीति अपनाने वाले देशों ने प्रतिवर्ष 10-12 प्रतिशत विकास दर हासिल की। ऐसा कोई कारण नहीं था कि हमारी विकास दर इतनी कम हो, जबकि हम दुनिया की तीसरी सबसे बड़ी इंजीनियरिंग और वैज्ञानिक मानव शक्ति हैं, जिसकी सकल घरेलू उत्पाद की उच्च बचत दर 23 प्रतिशत है। तथाकथित 'चार टाइगर्स', अर्थात् दक्षिण कोरिया, ताइवान, हांगकांग और सिंगापुर कम प्रशिक्षित मानव शक्ति और बहुत कम प्राकृतिक संसाधनों के साथ तीसरी दुनिया के वर्ग से ऊपर निकालकर पहली दुनिया की स्थिति (नव औद्योगिक देश-एन.आई.सी.) में सिर्फ एक पीढ़ी में पहुँच गए। उदाहरण के लिए, दक्षिण कोरिया की प्रति व्यक्ति आय 1962 में 82 डॉलर थी, जबकि भारत की 70 डॉलर थी। आज दक्षिण कोरिया की प्रति व्यक्ति आय भारत के वर्तमान स्तर की 13 गुना है।

	nf{k.k dkfj;k	mÙkj dkfj;k	nf{k.k@mÙkj vuqikr	if'peh teZuh	ioZ teZuh	if'peh ioZ vuqikr
1	2	3	4	5	6	7
माल का आयात बिलियन	135.1	1.31	103	269.8	23.3	11.5
विदेशी ऋण बिलियन (जी.एन.जी का %)	79 (17.5)	11.8 (53)	6.6	106.7 (8.8)	22 (23)	4.9
जीवन प्रत्याशा	72.0	70.5	1.02	75.0	74.0	1.01
वर्षों में (1995)						
शिशु मृत्यु प्रति 1000 जन्म पर (1995)	10	26	0.28	7.4	7.5	0.99
ग्रामीण जनसंख्या (कुल का %)	19	39	0.49	3.7	10.8	0.34
रेडियो प्रति हजार निवासियों पर (1989)	1,003	207	2.9	83%	99%	0.84
टेलिविजन प्रति हजार निवासियों पर (1989)	207	14	14.8	94%	57	1.65

स्त्रोत : नैशनल यूनिफिकेशन बोर्ड, बैंक ऑफ कोरिया, स्टेटिसटिक्स बुंडेसम्ट,स्टेटिसटिक्स जारनुश्डर, वर्ल्ड बैंक

एकात्मता और सद्भाव स्थापित करती है। प्रत्येक देश को अपने चिति की खोज कर उसे सजगता पूर्वक पहचानना चाहिए। फलस्वरूप, प्रत्येक देश को अपने विकास की रणनीति को अपनी चिति के आधार निर्धारित करना चाहिए। यदि वह अन्य देशों का नकल या दोहराने की कोशिश करता है, तो उसके लिए दुःख की स्थिति होगी।

अभिधारणा 5: चिति की अवधारण और धर्म की मान्यता पर आधारित एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था विकसित की जा सकती है, जिससे समाज के परस्पर विरोधी और हितों के मध्य संपूरकताओं को खोज कर जीवन के पारस्परिक अंतर-संतुलन को युक्तिसंगत बनाया जा सकता है। ऐसी व्यवस्था एक ऐसी सामाजिक विकल्प की व्यवस्था को प्रदर्शित करेगी जो व्यक्तिगत मूल्यों के समुच्चय पर आधारित होगी।

अभिधारणा 6: कोई भी अर्थव्यवस्था जो एकात्म मानवतावाद पर आधारित है, सामान्य लोकतांत्रिक मौलिक अधिकारों के साथ, भोजन का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, कार्य का अधिकार, मुफ्त चिकित्सा, देखभाल करने के बुनियादी अधिकार प्रदान करती है।

अभिधारणा 7: संपत्ति का अधिकार मौलिक नहीं है, लेकिन आर्थिक विनियमन पूरकता पर आधारित होगा, जो संपत्ति के सामाजिक स्वामित्व के विरोधाभास और बचाने एवं उत्पादन के लिए प्रोत्साहन की अनिवार्यता में विद्यमान है।

यह सात अभिधारणाएँ एकात्म मानववाद की आर्थिक नीति के आधार का प्रतिनिधित्व करती हैं। भारतीय समाज के अधिकांश प्रसिद्ध नारों का आधार इनमें से एक अथवा अधिक, अभिधारणाओं से लिए गये हैं। उदाहरणस्वरूप, स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान स्वदेशी या आत्मनिर्भरता का प्रभावशाली आह्वान अभिधारणा चार से लिया गया है। विकेंद्रीकरण की लोकप्रिय माँग अभिधारणा तीन से ली गई है। पर्यावरण की देखभाल और प्रदूषण नियंत्रण के आधुनिक विश्वव्यापी प्रचलित नारे का मुख्य स्रोत अभिधारणा पांच में पाया जा सकता है। व्यापक वैज्ञानिक सहमति है कि इष्टतम समाधान केवल 'व्यवस्था विश्लेषण' के आधार पर प्राप्त किया जा सकता है यह

बसों के स्थान पर प्रधानता दी गई है। इसका मतलब यह है कि हमारी परिवहन प्रणाली को भी उद्योगों के स्थान की योजना की तरह एकात्म किया गया। एक अच्छा पूँजीवादी या एक कम्युनिस्ट किसी भी समस्या को टुकड़ों में देखेगा। पूँजीवादी हमेशा शहरी केंद्रों का चयन करेगा, क्योंकि वहाँ अधिक लाभ है। कम्युनिस्ट भी शहरी केंद्रों की ओर रूख करेगा, जहाँ अधिकतम उत्पादन के साथ प्रशिक्षित औद्योगिक श्रमिक बल और बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

पूँजीवादी समाज में 'योग्यतम का अस्तित्व' का नारा है, जो सम्पूराकाताओं के बारे में चिंता नहीं करता। साम्यवादी समाज में राज्य इतना शक्तिशाली और दमनकारी है कि कोई भी उसके खिलाफ आवाज नहीं उठा सकता। लोकतांत्रिक समाजवादी समाज में जनता कुछ हद तक शोर गुल कर सकती है, जिसके कारण सरकार कुछ प्रदूषण विरोधी उपकरणों को स्थापित करे, लेकिन अंत में शहरी केंद्रों में ही निर्माण के लिए स्थान होगा। जबकि एकात्म मानववादी समाज में व्यवस्था के अनुरूप दृष्टिकोण होगा, इसलिए स्थान अनुकूलित होगा, जो शहरी आवासीय केंद्र नहीं होगा। परन्तु उद्यमकर्ता/प्रबंधक को आर्थिक नुकसान वहन करना पड़ सकता है, जो शहरी क्षेत्र का चुनाव कर अधिकतम लाभ प्राप्त करना चाहेगा। इसलिए संपूरकता की स्थापना के लिए प्रोत्साहन और क्षतिपूर्ति के आकलन की आवश्यकता है। अर्थशास्त्रियों को इस प्रकार की गणना की बेहतर जानकारी रहती है, लेकिन स्थानाभाव के कारण ज्यादा जानकारी नहीं दी जा रही है। सिर्फ गणना के द्वारा संपूरकताओं को जानना ही पर्याप्त नहीं है, व्यक्तिगत मूल्यों के आधार पर सामाजिक विकल्प की निरंतरता बनाने के लिए ढांचागत निर्णय लेने की आवश्यकता है। यह कहना ही काफी नहीं होगा कि लोकतंत्र में सामाजिक विकल्प बहुमत के निर्णयों के आधार पर होने चाहिए। इस बहुमत के आवश्यकताओं को प्रकाश में लाने के लिए प्रारूप की आवश्यकता है, अन्यथा परिणाम में विसंगति होगी।

उदाहरण के लिए मान लें कि हम समाज को तीन समूहों में विभाजित करते हैं- A : किसान, M : निर्माता, S : श्रमिक या अन्य सेवाकर्मी तो यह मानकर चलें कि समाज में A, M और S रहते हैं, वरीयता के क्रम में तीन परियोजनाएँ- X उर्वरक संयंत्र, Y स्टील प्लांट और Z

क्योंकि किसी एक वर्ग को चुनने में दूसरे वर्ग के लिए कष्टप्रद होता है। इसलिए ऐसे विषय को या तो सामान्य तरीके से या परोक्ष रूप से नियंत्रित किया जाता है। हिंदू प्रथा में, आदमी को संचय के प्रति प्रोत्साहित किया जाता है, सादगी से जीना और धन-संपत्ति एकत्र करना। परन्तु उसे सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, जब अपनी संपत्ति को दान में दे या 'न्यासी' बनकर समाज के लिए प्रबंधन करे। पश्चिमी समाज में व्यक्ति के धन/संपत्ति का आकार उसके सामाजिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का सबसे महत्त्वपूर्ण निर्धारक है। उसे अपने धन के एक बड़े हिस्से को स्वयं पर खर्च करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। परिणामस्वरूप एक ऐसे भीषण प्रतिस्पर्धा को जन्म होता है, जिसके अनुसार कौन स्वयं पर ज्यादा खर्च कर सकता है। हर व्यक्ति अपने पड़ोसी से ज्यादा खर्च करना चाहता है, जो भारी क्षति का सूचक है। एकात्म मानववाद में चीजों की योजना में सामाजिक सांस्कृतिक प्रभावों को मानव की सोच के साथ एकीकृत किया जाता है, इसलिए अपनी संपत्ति का विनियोग स्वयं की इच्छा से समाज के लिए करता है। इस तरह की रचना में, व्यक्ति की अपनी संपत्ति में या संपत्ति बढ़ने के संकल्प में इससे कमी नहीं आती।

इस व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति एक ट्रस्टी के रूप में, हर व्यक्ति भौतिक पर्यावरण और प्रदूषण के प्रति सजग रहता है। वह जानवरों और वनस्पतियों से भी मानवीय व्यवहार करता है और ऐसे जानवर, वृक्ष जो मानव सभ्यता के लिए बहुआयामी संपत्ति हैं, एकात्म मानव इन पशुओं और वृक्षों को दैवीय रूप में सम्मान देता है। गाय और पीपल ऐसे ही जानवर और वृक्ष हैं।

*****

वे धर्म की ग्लानि करने लगे। कहते हैं कि तब चिन्तित होकर ऋषि ब्रह्मा जी के पास गये और उनसे कहा कि यह कैसे चलेगा? तब ऋषि और ब्रह्मा के संवाद से राज्य की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मा जी कहते हैं कि ऐसी स्थिति में राजा की आवश्यकता है। ऐसे राजा की जो राजा अधर्म करने वाले को दण्डित करेगा और धर्म करने वाले को संरक्षित करेगा। धर्म करने वाले को संरक्षण और अधर्म करने वाले को दण्ड देने की एक संस्था उत्पन्न होनी चाहिए। उस संस्था का नाम होगा राज्य, उसका नेता होगा राजा। तब मनु को कहा गया कि आप राजा बन जाइए। मनु ने कहा ''मैं क्यों बनूं? मैं तो नहीं बनूंगा, क्योंकि जो राजा बनेगा वह लोगों को दण्ड देगा। दण्ड देगा तो लोगों को कष्ट होगा, ताड़ना होगी, पीड़ा होगी। किसी को कष्ट देना ताड़ना देना अधर्म है। इस पाप का मैं क्यों भागी बनूं?'' तब कहते हैं ब्रह्मा जी ने कहा ''नहीं ऐसा नहीं होगा, जो कुछ तुम करोगे उसका पाप तुम्हें नहीं लगेगा, क्योंकि वह तुम नहीं करोगे। तब कौन करेगा? ब्रह्मा जी ने एक दण्डनीति की पुस्तक दी और कहा कि यदि इस पुस्तक में लिखे कार्य करोगे और इससे धर्म करने वालों की रक्षा करने में जो लोगों की ताड़ना होगी उससे तुम्हें पाप नहीं होगा बल्कि उन धर्म करने वालों का एक अंश तुमको प्राप्त होता चला जायेगा। इसमें से निकलता है 'राज्य'।

दीनदयाल जी कहते हैं कि 'लोग धर्म करेंगे उसका एक अंश राजा को मिलता चला जायेगा, यह शास्त्र में तो नहीं लिखा है, लेकिन मुझको लगता है। यह दीनदयाल जी का व्यक्तिगत विचार है। दीनदयाल जी कहते हैं कि उसी प्रकार यदि समाज में अधर्म बढ़ता है तो अधर्म का भी एक अंश राजा को प्राप्त हो जायेगा। उसका अर्थ होगा कि समाज को बढ़ते अधर्म के कारण से विद्रोह करने का अधिकार होगा। इस कथा के माध्यम से राज्य की उत्पत्ति के विषय में जो बातें कही गईं इसकी कुछ निष्पत्तियां दीनदयाल जी बोलते हैं। सबसे पहली निष्पत्ति है, राज्य यह समाज का एक अंश है, इकाई है, समाज से छोटा है, समाज के लिए है, समाज के बाद में उत्पन्न हुआ है। अभी दुनिया में बहुत जगह यह समस्या है कि वे सोसाइटी और स्टेट को अलग-अलग नहीं करते। वे सोसाइटी और स्टेट को एक ही मानते हैं। यहाँ तक की सोसाइटी और स्टेट को ही नहीं, नेशन और स्टेट को भी एक ही मानते हैं, बैंकों का

है। जैसे, वाष्प और अग्नि की कौन-कौन सी ताकते हैं, यह खोजना हमारा काम है, यह जानना हमारा काम है। हम अग्नि पैदा नहीं कर सकते। हम हवा पैदा नहीं कर सकते। हम पृथ्वी पैदा नहीं कर सकते। हम पंच महाभूत पैदा नहीं कर सकते। इन पंच महाभूतों के जो अन्तर्निहित गुण (Inherent qualities) हैं इनके बारे में जानना और उसमें से अपना व्यवहार तय करना, इस प्रकार खोजे गये नियमों को धर्म कहते हैं।

आज की राजनीति की जो समस्या है यह केवल राजनीति ही नहीं सम्पूर्ण समाज की समस्या है। जब कोलम्बस ने पाँच सौ साल पहले यूरोप की धरती को छोड़ा और दुनिया की खोज में निकला तब भी अमेरिका तो वहीं था, जहाँ था और जहाँ पर है। अमेरिकन लोगों के लिए अमेरिका खोज का विषय नहीं था। अमेरिका यूरोपियन के लिए खोज का विषय था। यूरोपियन ने नई दुनिया की खोज की। कोलम्बस ने सुन रखा था कि दुनिया में कोई भारत नाम का देश है और वह देश सोने की चिड़िया है। उस देश में दूध, दही की नदियां बहती हैं अर्थात् वहाँ के लोग सम्पन्न हैं, अच्छा खाना खाते हैं, अच्छी सुविधाओं का उपभोग करते हैं। उसे लगा ऐसे देश में जाना चाहिए और सोने की चिड़िया हमको प्राप्त होनी चाहिए। वह भारत की खोज में निकला पर भारत तो नहीं पहुंचा, परन्तु अमेरिका पहुंच गया। इस कारण से आज भी जो पुराने अमेरिकन्स हैं, जो वहाँ के धरती पुत्र हैं उनको वे लोग इण्डियन्स कहते हैं। कोलम्बस के आने के बाद जो यूरोप के लोग आये उनकी एक पूरी परम्परा है, जिसको हम साम्राज्यवाद या उपनिवेशवाद के नाम से जानते हैं। उस साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद ने एशिया की जो प्राचीन परम्पराएँ हैं चाहे वह अरब की हों, चाहे वह चीन की हों, चाहे वह भारत की हों इन प्राचीन परम्पराओं को उन्होंने अपने ज्ञान से आवृत्त कर दिया।

भारत इनमें सबसे महत्वपूर्ण कड़ी है। भारत की ज्ञान परम्परा विश्वमान्य थी, इसलिए भारत की ज्ञान परंपरा को तोड़ना बहुत जरूरी था, क्योंकि भारत को गुलाम बनाना था। भले ही हम आजाद भारत की संतान हों पर हम उस पीढ़ी के लोग हैं जिस पीढ़ी के लोगों ने अपनी शिक्षा-दीक्षा उसी ज्ञान

नॉट रिलिजियस। मंडेन यानी भौतिक, टेम्पोरल यानी क्षणभंगुर, नॉट स्प्रिचुअल यानी अनाध्यात्मिक, नॉट रिलीजियस यानी अनापांथिक। वह अनापांथिक है, वह अनाध्यात्मिक है, वह क्षणभंगुर है, वह लौकिक है, भौतिक है, यह अर्थ आपको डिक्शनरी में मिलेंगे। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि थेओक्रेसी में जो स्टेट था वह थेओक्रेसी भौतिकतावादी (मंडेन) नहीं थी वह तथाकथित स्प्रिचुअल थी। चर्च, स्वर्ग के टिकट बांटता था, स्वर्ग के द्वार खोलता था, पापी मानव को मुक्त करता था। चर्च का राज्य भगवान का राज्य था। यूरोप के लोगों ने कहा कि भगवान का राज्य यदि इतना भयानक होता है तब हम सब इस भगवान के खिलाफ हैं। अध्यात्म जो चर्च कहता है अगर वही होता है तो हमको अध्यात्म नहीं चाहिए। यदि चर्च का राज्य भगवान का राज्य है तो हमको इन्सान का राज्य चाहिए। इसलिए वहाँ पर परिस्थिति हुई, थेओक्रेसी वर्सेज सेक्युलरिज्म, गाडिज्म वर्सेज ह्युमेनिज्म, स्प्रिचुएलिटी वर्सेज मंडेन सोसाइटी। यह वहाँ की पूरी परंपरा है। जब इस परंपरा को भारत के धर्म शब्द पर आरोपित करके यह सब बातें भारत में लाद दी गयीं तो भारत की परंपरा के धर्म-राज्य को पुस्तकों में थेओक्रेसी कहा जाने लगा।

दीनदयाल जी कहते हैं कि भारत वर्ष की परंपरा के धर्म-राज्य का पश्चिम की थेओक्रेसी से कोई लेना-देना नहीं है। पश्चिम के रिलिजन का भारत के धर्म से कोई लेना-देना नहीं है। यहाँ ये कल्पनायें मौलिक हैं, इनको मौलिक रूप से जानना चाहिए। मौलिक रूप से जान करके दुनिया को इसके बारे में बताना चाहिए, लेकिन दुनिया को तो बतायेंगे बाद में पहले खुद को जानना चाहिए। आजादी के सत्तर साल बाद भी अभी इसको हम जाने नहीं हैं। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने भारत के संविधान का आधिकारिक हिन्दी अनुवाद कराया। इस आधिकारिक अनुवाद में सेक्युलरिज्म का अनुवाद पंथनिरपेक्ष किया गया, धर्म निरपेक्ष नहीं किया गया। पर आज कोई भी युनिवर्सिटी का विद्वान इसका अनुवाद धर्मनिरपेक्ष ही करता है। रिलिजन का अनुवाद धर्म ही करता है। धर्म की बात करने वालों को कम्युनल ही कहा जाता है, इसलिए दीनदयाल जी इस बात का पुरजोर आग्रह करते हैं कि धर्म यह भारतीय प्रज्ञा से निकला हुआ एक मौलिक शब्द है। इसके

हुए जैसे शाक्तों व वैष्णवों में हुऐ, सनातनी व जैनियों में हुए, सनातनी व आर्यसमाजियों में हुए तो वे वैचारिक होते थे पर जो क्रुशेड और जिहाद की हिस्ट्री है वैसी कोई हिस्ट्री भारत की नहीं है। क्यों नही है? दीनदयाल जी कहते हैं कि भारतीय संस्कृति का बीज-मंत्र है, ''एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति'' है अर्थात् सत्य तो एक है परन्तु विद्वान् लोग उसको अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं।

यह छोटी सी बात है पर इस छोटी सी बात में कितना बड़ा मंत्र है कि सत्य एक है विद्वान् लोग उसको अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं। इसका मतलब है कोई भी प्रकार गलत नहीं है, सभी प्रकार सही हैं। कोई कहेगा ऐसा कैसे हो सकता है? सत्य तो एक ही है, परन्तु परमात्मा ने किसी एक व्यक्ति को इतनी प्रज्ञा नहीं दी है कि वह समग्र सत्य को अकेला जान सके। सत्य को जानने के लिए उसे सहकारी चाहिए। सत्य को अकेला नहीं जान सकता। जैसे, अभी मैं आपको देख रहा हूँ कि आपका चेहरा गोल है, आप की आंखें हैं, आपकी नाक है, आपका मुँह है, पर कोई आपको पीछे से देख रहा है तो वह कहेगा ऐसा बिल्कुल नहीं है एकदम झूठ है, न आंख है, न नाक है, कुछ नहीं है। मैं जो बोल रहा हूँ उससे भिन्न वह बोल रहा है, लेकिन क्या वह गलत बोल रहा है? जो कुछ वह बोल रहा है उससे भिन्न मैं बोल रहा हूँ तो क्या मैं गलत बोल रहा हूँ? इसलिए हमारे यहाँ यह माना ही नहीं गया कि कोई ऋषि कोई विद्वान झूठ बोलेगा, परन्तु यह माना गया कि सत्य के जिस अंश को तुम देखते हो मैं उसे नहीं देख पा रहा हूँ और निश्चय ही सत्य के जिस अंश को मैं देख रहा हूँ उसको तुम नहीं देख पा रहे हो।

'वादे वादे जायते तत्वबोधः' तत्व का बोध प्राप्त करने के लिए विमर्श कीजिए डिबेट नहीं। विमर्श का विकार है डिबेट, जो आज के पाश्चात्य लोकतंत्र का हिस्सा बना हुआ है। विमर्श का मतलब होता है तुम सच बोलते हो, मैं सच बोलता हूँ, पर हमारा विभेद कहाँ है, मिलते क्यों नहीं? हम आपस में मिलेंगे तो उसे कहते हैं सहमति विकसित होना। डिबेट में क्या होता है? डिबेट में यह है कि मेरा स्टेण्ड प्वाइन्ट यह है और तेरा स्टैण्ड प्वाइन्ट वह है और न मैं तेरी मानूंगा न तू मेरी मानेगा इसका नाम है 'डिबेट'। डिबेट समाज जीवन का नियामक नहीं हो सकता, यह विकार है। भारत के ऋषि कहते हैं -

representation)। प्रतिनिधित्व कैसे होगा? तब यह निश्चित हुआ कि प्रतिनिधित्व के लिए इलेक्शन होगा। उस इलेक्शन के परिणामस्वरूप सामंतशाही भी जायेगी, पंथशाही भी जायेगा और लोकशाही आयेगी। यह लोकतंत्र के प्रणयन की मुख्य पॉलिसी थी। उसमें जो बाकी बाते हैं स्वातन्त्रता है, अभिव्यक्ति की आजादी है, वगैर-वगैरह यह सब बाद में आयी। थेओक्रेसी भी नहीं रही, सामंतशाही भी नहीं रही, तब प्रश्न उठा कि टेरेटरी का नियामक कौन? राजा और चर्च ये दोनों जो टेरेटरी के नियामक थे इन दोनों को खत्म कर दिया अब टेरेटरी का नियामक कौन? उन्होंने कहा हमारा राज्य न तो पंथ राज्य है, न तो सामंती राज्य है, यह राष्ट्र राज्य है। अब प्रश्न उठा कि टेरेटरी में राष्ट्र कैसे तय करेंगे? तब उन्होंने कहा इस टेरेटरी में जो स्टेट है यानी एक टेरेटरी के भीतर की सम्प्रभुता सम्पन्न स्टेट जो की चुनी हुई है वह राष्ट्र का नियमन करेगी। अतः राष्ट्रवाद पर पश्चिम में बहुत बहस हुई। वास्तव में राष्ट्रीयता की धारणा भू-संस्कृतिक (Geo-Cultural) है, लेकिन पश्चिम के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उसे राजनीति-क्षेत्रीय (Politico-Territorial) बना दिया गया।

आज स्थिति यह है कि जिसको राष्ट्र कहा जाता है उस राष्ट्र की कोई परिभाषा नहीं है, उस राष्ट्र का कोई आधार नहीं है। आज राष्ट्र का आधार, राष्ट्र की परिभाषा यह है कि यू.एन.ओ. नाम की संस्था जिस किसी स्टेट को मान्यता प्रदान कर दे वही राष्ट्र कहलाने लगती है। अरब जगत की एक-एक रियासतें राष्ट्र कहलाती हैं। यू.एन.ओ. के पास कोई परिभाषा है क्या राष्ट्र की? कोई परिभाषा नहीं है। यूगोस्लाविया एक नेशन-स्टेट था। वहाँ का जो प्रधान था वह यू.एन.ओ. में चिल्लाता रहा और यू.एन.ओ. ने वहाँ आठ नेशन स्टेट को परमिट कर दिया। सोवियत संघ का एक नेशन-स्टेट था। ऐसा कोई दशक नहीं है जब नेशन-स्टेट की संख्या घट-बढ़ न रही हो। दीनदयाल जी कहते है यह गलत है, यह अप्राकृतिक है। राष्ट्र की कल्पना राजनैतिक है ही नहीं, राष्ट्र की कल्पना सांस्कृतिक है। संस्कृति राष्ट्रों का नियमन करती है। दीनदयाल जी कहते हैं ''संस्कृति राष्ट्रों का जब नियमन करती है तो संस्कृति और भूमि का जुड़ाव होता है और जहां जन और संस्कृति में संघात होता है तब वहां राष्ट्र की उत्पत्ति हो जाती

जब पैदा हुआ तो उसकी राष्ट्रीयता भारतीय थी, थोड़ा सा जवान हुआ तो राष्ट्रीयता पाकिस्तानी हो गई, थोड़ा सा प्रौढ़ हुआ तो राष्ट्रीयता बांग्लादेशी हो गई। एक ही जीवन में तीन-तीन राष्ट्रीयता भोग सकता है। व्यक्ति वही है, उसका शरीर वही है, उसकी भाषा वही है, उसका खानपान वही है, उसकी बोल-चाल वही है, उसके पूर्वज वही हैं, उसकी घर गृहस्थी वही है और आप केवल उसके साईन बोर्ड बदलते रहते हो। कभी साईन बोर्ड से भारतीय हो गया, कभी साईन बोर्ड से पाकिस्तानी हो गया, कभी साइन बोर्ड से बांग्लादेशी हो गया। क्या यह प्राकृतिक है, क्या यह स्वाभाविक है और क्या यह ठीक है? दीनदयाल जी कहते हैं यह राजनीतिक-राष्ट्रवाद (Politico-Nationalism) मानवता के विखण्डन का कारक है। एशिया में पश्चिम की पॉलिसी ने जो किया आज इसी का परिणाम है कि विशेष कर जो नेशन-स्टेट्स हैं उनकी सीमायें आर्मी से घिरी हुई हैं। यूरोपियन्स के आने के पहले सेनायें नहीं थीं। यूरोपियन्स के आने के बाद ये सेनायें आयीं, क्योंकि यूरोपियन्स कालोनीज की होड़ में आपस में लड़ते थे। यूरोपियन्स ने अफ्रीका और एशिया मे कालोनीज कब्जाने के लिए कैसे लड़ाई की आपस में और फिर कैसे चर्च ने हस्तक्षेप किया और उसके कारण से सेनायें आयीं यह पूरी अलग कहानी है। अपनी-अपनी कालोनीज की रक्षा के लिए उन्होंने सेनायें खड़ी कीं। अब ऐतिहासिक दौर ऐसा आया कि वे चले गये और जाने के पहले उन्होंने राजनीतिक-क्षेत्रीय राष्ट्रवाद (Politico-Territorial Nationalism) के आधार पर दुनियां में दो बड़े महायुद्ध किये। मानवता रक्त से रंजित कर वे चले गये और सेनायें छोड़ गये।

दो महायुद्धों से उन्होंने जो कुछ सीखा उसका परिणाम है कि आज यूरोपीय नेशन-स्टेट की सीमाएं सैन्य मुक्त हैं। यूरोप के जो नेशन-स्टेट हैं फ्रांस, जर्मनी, स्पेन, पुर्तगीज और डच इनकी सीमाओं पर सेनायें नहीं हैं। अमेरिका और कनाडा इनकी सीमाओं पर सेनायें नहीं हैं। यूरो-अमेरिकन वर्ल्ड के राष्ट्र राज्य सैन्य मुक्त हैं तो भारत की सीमाओं पर ये सेनायें क्यों खड़ी हैं? किस लिए खड़ी हैं? द्वितीय महायुद्ध के बाद यूरो-अमेरिकन वर्ल्ड में युगोस्लाविया के अतिरिक्त एक भी बड़ा युद्ध नहीं हुआ है। द्वितीय महायुद्ध के बाद समाजवाद, कम्युनिस्टवाद सारे युद्ध एशिया में हो रहे हैं, चाहे

कोई पॉलिटिकल पार्टी उसे छूती भी नहीं। क्यों नहीं छूती? क्योंकि उनकी राष्ट्र के बारे में धारणा बड़ी विचित्र है। जब गोवा की आजादी की बात चली तो जवाहरलाल जी प्रधानमन्त्री थे। उन्होंने कहा कि गोवा की आजादी की बात हम नहीं करेंगे। क्यों नहीं करेंगे? उन्होंने कहा हमको जो नेशन-स्टेट प्राप्त हुआ है वह ब्रिटिश-इण्डिया का है और जो ब्रिटिश-इण्डिया का हिस्सा है वह तो इण्डिया है, जो ब्रिटिश-इण्डिया का हिस्सा नहीं है वह इण्डिया नहीं है और गोवा ब्रिटिश-इण्डिया नहीं है, पुर्तगीज का राज्य है। यह कैसी सोच है? भारत की राष्ट्रीयता का नियमन क्या ब्रिटिश सीमायें करेंगी? वहाँ पर जनसंघ ने आन्दोलन किया। पन्नालाल, राजाबाबू वहां पर बलिदान हुए, रानाडे ने जेल भोगी और सम्पूर्ण देश में सत्याग्रह हुआ।

राष्ट्र की अखण्डता की राजनीति करने वाला एकमात्र महापुरुष है पं. दीनदयाल उपाध्याय। जब देश का संविधान बन रहा था उस समय कुछ बातें दीनदयाल जी ने कहीं, उनको मैं आपको संक्षेप में बताता हूँ। उन्होनें कहा 'हमें आने वाली पीढ़ियों को किसी जटिल संविधान के बन्धन से नहीं बांध देना चाहिए। हमें संविधान का क्रमशः विकास करना चाहिए। सबसे बड़ी त्रासदी यह हुई कि 1935 के भारत सरकार अधिनियम (Government of India Act 1935) को ही लगभग ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया। जिस 1935 के एक्ट को सारी कांग्रेस ने नकार दिया था उस एक्ट को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। उसमें उन्होंने जो मौलिक भूलें बतायीं, उसमें सबसे बड़ी भूल थी संघात्मक संविधान का निर्माण। उन्होंने कहा भारत एक देश है तो भारत का राज्य भी एक होना चाहिए। क्या ऐसा तथ्य है कि भारत वर्ष में अनेक राज्य हैं उन राज्यों ने मिलकर संघ बनाया? दीनदयाल जी ने कहा जो तथ्य नहीं है उसको तथ्य के रूप में क्यों निर्मित कर रहे हो। भारत एक राज्य है, भारत को एकात्म राज्य होना चाहिए। भारत राज्यों का संघ नहीं है।

वे अपने आलेखों में संघात्मकता के कारण को स्पष्ट करते हैं। यह संघात्मकता भारत में आयी कहां से? 1935 के एक्ट में पहली बार इनको स्टेट कहा गया, इसके पहले वे प्रोविन्स थीं। यह प्रोविन्स बनी कैसे? जैसे-जैसे अंग्रेज भारत जीतते गये वैसे-वैसे नई प्रोविन्स बनती चली गई। इन प्रोविन्सों के बनने

है यह 'वादे-वादे जायते कण्ठशोषः' का है। लोकतंत्र का विकास करना चाहिए। हम कुछ ऐसी पद्धति लायें जो विवाद की नहीं, जो अल्पमत-बहुमत की नहीं, जो आम सहमति की हो, जो समाज की सामान्य इच्छा को प्रत्यक्ष कर सके। हम ऐसी पद्धति लायें जिसमें कम से कम यह लोकतंत्र बहुमत का तो नियामक हो।

सत्तर साल पूर्व दीनदयाल जी ने जो बातें कहीं वह लोगों को समझ में नही आयी, लेकिन आज समझ में आती है। जब 1952 का इलेक्शन हुआ तो उन्होंने कांग्रेस से कहा यह मत मानिये कि भारत की जनता आपके साथ है। आपको कोई हक नहीं है कि आप अपनी नीतियां भारत पर आरोपित करें, क्योंकि आपको कुल मतदाता का केवल पच्चीस प्रतिशत मत मिला है। चाहे जवाहरलाल जी की सरकार हो, चाहे श्रीमती गांधी की सरकार हो, चाहे अटल बिहारी बाजपेई जी की सरकार हो, चाहे नरेन्द्र मोदी जी की सरकार हो, किसी को भी 51 प्रतिशत का मैनडेट नहीं है। दीनदयाल जी ने कहा कि हमारी चुनाव पद्धति में परिवर्तन होना चाहिए, अनुसंधान होना चाहिए और उसे कम से कम बहुमत का तो प्रतिनिधित्व होना चाहिए। वैसे ही जो हमारी कानून बनाने की प्रक्रिया है उस कानून बनाने की प्रक्रिया को भी ठीक करना चाहिए।

दीनदयाल जी ने कहा कि यह लोकतंत्र है इसमें जैसा लोक होगा तंत्र वैसा ही होगा। इसलिए उन्होंने कहा कि पॉलिटिकल पार्टियों, नेताओं और सांसदों वगैरह में कमी निकालने की जरूरत नहीं है। क्यों जरूरत नहीं है? दीनदयाल जी ने कहा सिद्धांतहीन मतदान, सिद्धांतहीन राजनीति का जनक है। उन्होंने कहा यह संभव ही नहीं है कि वोट सिद्धांतहीन होगा और सिद्धांतहीन वोट में से उत्पन्न होने वाली राजनीति सिद्धांतवादी होगी। व्यक्तिगत लोग सिद्धांतवादी होंगे पर राजनीति यह सिद्धांतवादी नहीं होगी। इसलिए उन्होंने कहा कि कम से कम एक पीढ़ी को यह काम करना चाहिए कि वह लोकमत परिष्कार करे।

दीनदयाल उपाध्याय एक ऐसी पार्टी के नेता थे जिसने भारत के राजकोष में सर्वाधिक जमानतें जमा करायी। जितनी जमानत जब्त जनसंघ की हुई थी पूरी दुनियां में किसी पार्टी की नहीं हुई। जब 1957 के चुनाव हो रहे थे तब जनसंघ के लोगों ने कहा पण्डित जी हम सारे देश में हारते हैं। आप क्यों सारे देश में चुनाव लड़वाते हैं? क्यों न दस-बीस जगह ऐसा जोर लगायें जहां से जीत कर संसद में जायें?

दीनदयाल जी ने भारतीय परम्परा को एकात्म मानववाद इस नाम से व्याख्यायित किया। एकात्म मानववाद का अर्थ है कि राज्य मानव को चाहिए, इसलिए मानव कौन है, उसे पहचानो। मानव को पहचानने के क्रम में पश्चिम के एक प्रकार के विद्वानों ने कहा कि मानव एक व्यक्ति है। इसके बुरे परिणाम आये तब दूसरे प्रकार के लोगों ने कहा कि नहीं गलती हो गई, मानव व्यक्ति नहीं समाज है। व्यक्तिवादी और समाजवादियों में लड़ाई हो गई। जो व्यक्तिवादी हैं वे समाजवादियों को नहीं मानते, जो समाजवादी हैं व्यक्तिवादियों को नहीं मानते। व्यक्ति बनाम समाज का जो यह वाद पश्चिम से आया है इसे हम क्यों स्वीकार करें? हम तो व्यक्ति बनाम समाज की अवधारणा को मानते ही नहीं। हम मानते हैं कि व्यक्ति और समाज एकात्म है, व्यष्टि और समष्टि एकात्म है। यदि समाज से व्यक्ति निकाल दो तो समाज बनेगा ही नहीं और व्यक्ति से समाज निकाल दो तो पशु हो जायेगा।

व्यक्ति का अर्थ है व्यक्त करने वाला। मैं क्या व्यक्त करता हूँ? मैं शरीर व्यक्त करता हूं, मैं भाषा व्यक्त करता हूँ, मैं भूषा व्यक्त करता हूँ, मैं विचार व्यक्त करता हूँ, अतः मैं व्यक्ति हूं। मैं ने यह भाषा-भूषा, रस-गंध, विचार समाज से पाये। मैं अपने समाज को व्यक्त करता हूँ। मैं यानी कोई भी व्यक्ति अपने समाज को व्यक्त करता है। व्यक्ति में से समाज निकाल दो तो पशु बचेगा और समाज में से व्यक्ति निकाल दो तो शून्य बचेगा। अतः व्यक्ति बनाम समाज का सिद्धांत सर्वथा गलत है। एकात्म का मतलब है जो बटने लायक नहीं है, जो अलग नहीं किये जा सकता, व्यष्टि और समष्टि को बाटा नहीं जा सकता। इसलिए उन्होंने कहा नीतियां बनाने वालों सुनो तुमको व्यक्ति के लिए कानून नहीं बनाने हैं, तुमको समाज के लिए भी कानून नहीं बनाने हैं, तुमको व्यक्ति और समाज जहां एकात्म हो जायें उसके लिए कानून बनाने हैं, उसके लिए नीतियां बनानी हैं।'

दीनदयाल जी ने कहा व्यक्ति और समाज का जो संदर्भ पश्चिम की बहस का है इसको आगे बढ़ाना चाहिए। उन्होंने कहा व्यष्टि, समष्टि, सृष्टि और परमेष्टि इन चारों की एकात्मता का नाम है 'मानव'। मानव में से परमेष्टि को निकाल दो, मानव मे से समष्टि को निकाल दो, मानव में से व्यष्टि को निकाल

एकात्म मानववाद : आर्थिक आयाम

डॉ. बजरंग लाल गुप्त[1]

दीनदयाल जी और उनके विचार को समझने के पूर्व यह बात समझनी आवश्यक है कि उनका विचार सरल है पर समझना कठिन है। कठिन विचार को समझना आसान होता है, सरल विचार को समझना कठिन होता है। दीनदयाल जी के विचार के साथ में भी यही बात है। दीनदयाल जी के एकात्म मानवदर्शन को समझने के लिए भारतीय मन और मानस चाहिए। मुझे भी समझाने में कठिनाई होती है। अभी भी पूरा समझ में आया है ऐसा मैं नहीं कह सकता। जिन्होंने दीनदयाल जी को योग्य प्रकार से समझा है उन विद्वान व्यक्ति के पास मैं गया और पूछा कि बार-बार पढ़ने के बाद भी मुझे दीनदयाल समझ में क्यों नहीं आते? तब उन्होंने कहा कि तुम्हारा मन और मानस भारतीय हैं क्या? विचार में कहीं गड़बड़ है, घोटाला है, कहीं मिलावट है। हमारा मन और मानस पिछले कालखण्ड में दूषित हो गया है, मिलावट हो गया है। हमारा पूर्णतौर से भारतीय मन और मानस नहीं रहा, इसलिए दीनदयाल जी को जब कभी भी हम समझने का प्रयत्न करें, उसके पूर्व प्रयत्न पूर्वक अपने को, अपने मनःस्थिति को, अपने मानस को भारतीय बनाने का एक अतिरिक्त प्रयास करना चाहिए।

एक दूसरी बात यह है कि हम सब पढ़े-लिखे लोग पाश्चात्य शब्दावली (Western Terminology) के अभ्यस्त हो गये हैं। हम किसी

[1] प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एवं पूर्व अध्यापक - दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा दिनांक 11 अप्रैल 2015 को अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ, महावीर भवन इलाहाबाद में दिया गया व्याख्यान।

Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations" (राष्ट्र के धन की प्रकृति और कारणों की जांच)। इसमें उसने अर्थशास्त्र को 'Science of Wealth' धन के शास्त्र के रूप में प्रस्तुत किया। अतः यह अर्थशास्त्र हमें यही सिखायेगा कि हम ज्यादा से ज्यादा धन का अर्जन कैसे कर सकते हैं । बाद में अर्थशास्त्र के क्षेत्र में दो बड़े नाम आये मार्शल (Alfred Marshall) और पीगू (Arthur Cecil *Pigou)* मार्शल और पीगू ने अर्थशास्त्र को एक नये ढंग से परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कहा कि Study of human being welfare and study of social welfare which can be measured with the measuring role of money. उनका कहना था 'हम सामाजिक कल्याण, सामाजिक व्यवहार के उस हिस्से का अध्ययन करते हैं जिसको मुद्रा के मापदण्ड से मापा जा सकता है'। मार्शल ने अर्थशास्त्र को भौतिक कल्याण (Material Welfare) के शास्त्र के रूप में प्रस्तुत किया।

उसके कुछ वर्षों के बाद एक विद्वान आया प्रो0 राबिन्स। प्रो0 राबिन्स ने कहा "Economics is the science that studies human behavior as a relationship between ends and scarce means which have alternative uses." उन्होंने कहा कि मनुष्य की आवश्यकतायें अनन्त हैं पर आवश्यकताओं को पूरा करने वाले साधन सीमित हैं। यदि अनन्त आवश्यकताओं को पूरा करने वाले साधन भी अनन्त होते तो संसार में कोई झगड़ा ही नहीं रहता, सब काम सबके हो जाते। पर साधन सीमित हैं और साधनों का एक गुण है कि वे अल्टरनेटिव यूजेज वाले हैं। एक ही साधन को आप भिन्न-भिन्न प्रयोगों में काम ले सकते हैं। मेरे पास सौ रूपये का नोट है मैं उससे खाना भी खा सकता हूं, मैं उससे पिक्चर भी देख सकता हूं, मैं चाहूं तो सैर करने के लिए भी जा सकता हूं। साधन के वैकल्पिक प्रयोग हैं। बिजली हमको उपलब्ध हैं हम उससे पंखा भी चला सकते हैं, खेती के काम में भी ले सकते हैं। अतः प्रयोगों के विकल्प (alternative uses) हैं। अब यह जो अर्थशास्त्र है वह हमको क्या सिखाता है, हम कौन से साधन चुने और सीमित साधनों से कौन सी आवश्यकता पूरी करें? तब उसने कहा यह चयन का विज्ञान है (It is science of choice), सब चीजें

आर्थिक गतिविधियों में से धन का अर्जन, धन के अर्जन से आवश्यकताओं की पूर्ति और फिर आवश्यकतायें खड़ी हो जाना। हम इसी सांसारिक चक्र में उलझे हुए हैं, जिसको कहा गया है आर्थिक चक्र (Economic circle)। सारा अर्थशास्त्र जो वर्तमान में हम पढ़ते-पढ़ाते हैं वह इसी चक्र के अन्तर्गत आता है। दीनदयाल जी ने इसमें थोड़ा सा जोड़ा, उन्होंने कहा यह अधूरा है, खण्डित विचार है, यह पूर्ण विचार नहीं है, यह समग्र विचार नहीं है, यह एकात्म विचार नहीं है। दीनदयाल जी ने भारत की शब्दावली में उसे पुरुषार्थ चतुष्ट्य कहा है। वर्तमान के चक्र में तो केवल अर्थ और काम का सर्कल है। आर्थिक गतिविधियां करना और कामनाओं को शान्त करना। इसमें यह तो पढ़ाया ही नहीं, यह तो सिखाया ही नहीं, यह तो बताया ही नहीं कि आप को धन कमाते समय कौन सी मर्यादाओं का ध्यान रखना है।

आजकल बहुत सारे स्टूडेन्ट्स एम.बी.ए. की पढ़ाई करने जाते हैं। एम.बी.ए. करके आते हैं तब मैं पूछता हूं तुमको क्या सिखाते हैं? कहते हैं हमको यह सिखाते हैं कि एम.बी.ए. बन जाने के बाद में तुमको एक टार्गेट पूरा करना है। किसी भी एम.बी.ए. के विद्यार्थी की जब नियुक्ति होती है तो उसे उसका अधिकारी क्या कार्य देता है? वह कहता है तुम्हें यह टारगेट पूरा करना है, चाहे इसके लिए कोई भी तरीका अपनाओ (You have to achive this target by this way or that way)। तुम्हें किसी भी तरीके से यह लक्ष्य पूरा करना ही है। उनको उचित-अनुचित से कोई मतलब नहीं है, उनका लक्ष्य पूरा होना चाहिए। आज जितनी भी प्रकार की आर्थिक समस्यायें अपने देश में और दुनिया में हैं जैसे घोटालें, ब्लैक मार्केटिंग, फिक्सिंग आदि ये तमाम तरह के जो खेल चल रहे हैं सब वर्तमान अर्थशास्त्र में उपजे हुए खेल हैं। हमको बताया ही यह जा रहा है कि अपना लक्ष्य पूरा करने के लिए कोई भी रास्ता अपनाया जा सकता है। सफल व्यवसायी या सफल विक्रेता (Sales-man) किसको कहते हैं? जब कोई व्यक्ति विक्रेता बनता है तब उसे सिखाया जाता है कि तुम अपना सामान उस व्यक्ति को बेच कर आना जो सामान नहीं खरीदना चाहता, तभी तुम अच्छे सेल्समैन कहे जाओगे। यही वर्तमान

एनिमल कहते हैं और मैकेनिकल साइन्स वाले उसको मैकेनिकल एनिमल कहते हैं। बायोलॉजी वाले कहते हैं हजारों-हजार कोशिकाओं का समूह (The bundle of thousands and thousands of cells)। हर एक शास्त्र अपने-अपने ढंग से मनुष्य को देखता है और मनुष्य को परिभाषित करने का प्रयत्न करता है। अर्थशास्त्र में भी परिभाषित करने का प्रयत्न किया गया है। अर्थशास्त्र के निगाह में मनुष्य इकनोमिक मैन है। यदि ऐसा माना जाये तो सम्पूर्ण व्यवहार बदल जायेगा। मैं यदि कहूं भाप का इंजन। मैने इन्जन को भाप का इंजन क्यों कहा, क्योंकि यह इंजन भाप से चलता है। मैं कहूं बिजली की मोटर है तो मैंने इस मोटर को बिजली की क्यों कहा, क्योंकि यह बिजली से चलती है। उसी प्रकार यदि मैं मनुष्य को आर्थिक मनुष्य कहूंगा तब इसका अभिप्राय होगा कि यह मनुष्य अर्थ से चलता है, पैसे से चलता है, धन से चलता है।

मनुष्य को उपभोक्ता के रूप में बाजार में जाकर निर्णय करना है कि मैं कोई सामान खरीदूं कि न खरीदूं तब निर्णय का आधार वर्तमान अर्थशास्त्र क्या बताता है? कम पैसे में मिले तो खरीद लो, क्वालिटी क्या है इसकी चिंता नहीं करना। उत्पादक किसी चीज का उत्पादन करे की न करे इसका उसको निर्णय करना है तो वर्तमान अर्थशास्त्र क्या सिखाता है? जिसमें ज्यादा लाभ मिले उसका उत्पादन करो, जिसमें कम लाभ मिले उसका उत्पादन मत करो। देश के लिए जरूरी है कि नहीं है, फायदे की चीज है कि नहीं है, इसका विचार नहीं करना है। समाज के नाते से, कर्मचारी के नाते से, मजदूर के नाते से मनुष्य का व्यवहार कैसा होगा? वर्तमान अर्थशास्त्र सिखाता है कम से कम काम करना और ज्यादा से ज्याद पैसा लेना। कम्युनिस्टों का मजाक चलता है, ''रघुपति राघव राजा राम, आधा काम पूरा दाम''। मालिक के रूप में, पूंजीपति के रूप में दृष्टिकोण क्या है? कर्मचारी से मजदूर से अधिकतम काम लेना और कम से कम मजदूरी देना। सम्पूर्ण अर्थव्यवहार उलटी दिशा में चला गया है, क्योंकि हम ने मनुष्य को आर्थिक मनुष्य मान लिया।

दीनदयाल जी यहां हस्तक्षेप करते हैं कि मनुष्य शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा इन चारों का समुच्चय है। इसलिए अगर मनुष्य के सुख का शास्त्र आप अर्थशास्त्र को बनाना चाहते हैं तो आपको ऐसी आर्थिक नीतियां बनानी

शरीर को आहार मिले, देश के तमाम व्यक्तियों की जरूरत की पूर्ति की गारंटी हो? मनुष्य की तमाम जरूरत की पूर्ति के साथ ही ऐसी अर्थव्यवस्था विकसित करनी पड़ेगी, जिसमें मन को प्रेम, आत्मियता, स्नेह प्राप्त हो सके। आज तो वह है ही नहीं, पति-पत्नी के बीच स्नेह नहीं है, पिता-पुत्र के बीच स्नेह नहीं है, भाई-भाई के बीच स्नेह नहीं है। परिवार के लोग ही हत्यायें कर रहे हैं,। परिवार खो चुका है, प्यार खो चुका है, आत्मियता खो चुकी है, स्नेह गायब हो गया है। मन को प्यार चाहिए, बुद्धि को विचार चाहिए तभी प्रगति होती है। नयी तकनीकी, नये सिद्धांत, नया आविष्कार, और नये तरीके तभी आयेंगे जब देश में विचारवंत लोग होंगे। अंततोगत्वा हम सब लोगों का उद्देश्य आत्मा का साक्षात्कार है। इसको पूरा करने के लिए विचार करना पड़ेगा। दीनदयाल जी ने इस दृष्टि से इन दो बातों को लेकर के नयी अर्थदृष्टि नया शास्त्र देने का प्रयत्न किया।

अर्थरचना के बारे में दीनदयाल जी ने बोला हमारे देश की अर्थरचना कैसी होनी चाहिए? अपने देश का दुर्भाग्य हुआ कि सेकण्ड साइबर लैण्ड से जो नेहरू माडल हमने स्वीकार किया वह रसियन मॉडल की कापी थी। उसमें हमने भारी और बुनियादी उद्योगों (Heavy and Basic Industries) को अपनी अर्थव्यवस्था (Economy) के केन्द्र में रख दिया और अपने छोटे उद्योगों को दुर्लक्ष्य कर दिया, कृषि को भी दुर्लक्ष्य कर दिया। हमारे देश में धन और आय का केन्द्रीकरण (Concentration of Wealth and Income) हो गया। अभी कुछ दिनों पहले एक अध्ययन प्रकाशित हुआ। आप लोगों में से शायद कुछ लोगों ने पढ़ा होगा। उस स्टडी में यह बताया गया था कि, अपने देश के शहरी क्षेत्र के उच्चतम दस प्रतिशत परिवार की उच्चतम आय (Highest Income) और निम्नतम 10 प्रतिशत परिवार की निम्नतम आय (Lowest Income) इन दोनों के बिच पांच लाख गुने का अंतर है। क्या इससे आपाधापी नहीं बढ़ेगी, इससे आतंकवाद नहीं बढ़ेगा, इससे उग्रवाद नहीं आयेगा, इसमें अराजकता नहीं आयेगी? इतनी भीषण असमानता के कारण, केवल कुछ लोगों की आय बढ़ गई। कुछ लोगों के रहन-सहन का ढंग बढ़ गया तो देश की ग्रोथ हो गई क्या?

दीनदयाल जी ने कहा पुनर्चिन्तन करना पड़ेगा। उन्होंने भारतीय

का क्षरण हो रहा है। प्रदूषण बढ़ाकर पर्यावरण को नष्ट कर रहा है और हम पृथ्वी सम्मेलन कर रहे हैं। केवल भाषण हो रहे हैं और पर्यावरण लगातार नष्ट हो रहा है। इसमें आधारभूत कमी कहां है? आधारभूत कमी तो आपके टेक्नोलॉजी के चयन में है। हमारे सामने आज यह चुनौती है कि हम अपने देश के अनुकूल कौन सी ऐसी टेक्नोलॉजी विकसित कर सकते हैं, जिस टेक्नोलॉजी की द्वारा पर्यावरण की कम से कम हानि होती है। इसमें हमने नकल की, अपनी अकल का प्रयोग नहीं किया।

एक ई.एफ. शूमाकर नाम के बड़े विद्वान हुए, जिनकी पुस्तक 'स्माल इज ब्यूटीफुल' बहुत प्रसिद्ध हुई। अपनी पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भिक काल खण्ड में भारत सरकार ने शूमाकर को सलाहकार बनाकर बुलाया। हमारी स्वतंत्र भारत की परम्परा में अपने देश का कन्सल्टेन्ट पसन्द नहीं है, विदेश का कन्सल्टेन्ट ही पसंद है। शूमाकर यहां आया तो अपने खाली समय में उसने भारत के शास्त्रों को पढ़ना शुरू कर दिया और शास्त्रों को पढ़ने के बाद उसे लगा कि भारत के पास दुनिया को सलाह देने के लिए अथाह ज्ञान का भण्डार है और मुझको कन्सल्टेन्सी के लिए बुला लिया। तब वह वापस लंदन चला गया और उसने वहां शुरू किया उपयुक्त तकनीक (Appropriate Technology)।

आज जिस टेक्नोलॉजी को हम अपना रहे हैं वह तो उपयुक्त नहीं है। बेरोजगारी और प्रदूषण की समस्यायें खड़ी कर रही है। हमने संकर (Hybrid) प्रजाति के बीजों के नाम पर न्यू एग्रीकल्चर टेक्नोलॉजी को सन् 65-67 में स्वीकार कर लिया। स्वामीनाथन जैसे लोगों ने उसका बड़ा गुणगान किया कि कृषि की पैदावार बढ़ेगी। उन्हीं की सलाह पर स्वीकार किया गया। उत्पादन तो बढ़ा परन्तु अब आज उसका अन्तिम परिणाम क्या है? अंतिम परिणाम यह है कि जल स्तर नीचे चला गया। रासायनिक उर्वरक और कीटनाशक के कारण से धरती की मृदा उत्पादकता (Soil Fertility) कम हो गई। जो अनाज या फल उत्पन्न हो रहा है उसमें रासायनिक घटक (Chemical Content) बढ़ गया, जिससे स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ रहा है। हमने यह विचार ही नहीं किया कि हमारे देश की धरती और परिस्थिति के अनुसार कौन सी टेक्नोलॉजी उचित है, इसलिए दीनदयाल जी कहते हैं हमको टेक्नोलॉजी के चयन में अधिक सावधानी

गया है 'बुभुक्षितः किम् न करोति पापं? भूखा आदमी क्या पाप नहीं करता। उसे कुछ दिखाई नहीं देता, वह कुछ भी करेगा, वह अफरातफरी करेगा, इसलिए अर्थ का अभाव देश में नहीं रहना चाहिए।

दीनदयाल जी अगली बात कहते हैं अर्थ का प्रभाव भी नहीं रहना चाहिए नहीं तो विलासी जीवन हो जायेगा। विलासी जीवन वाला व्यक्ति भी अर्थ के व्यामोह में और अर्थ के नशे में क्या-क्या शोषण नहीं करता है, कैसी-कैसी बुराईयों को जन्म नहीं देता है। देश के स्तर पर भी यह सच है और व्यक्ति के स्तर पर भी यह सच है। आखिर दुनिया के दो-चार देश जो अपने को विकसित कहते हैं, ऐसे धनी देश दुनिया के विकासशील देशों का शोषण ही तो कर रहे हैं। अपने भी समाज जीवन में जिनके पास आवश्यकता से अधिक धन होता है वे कैसा-कैसा आचरण करते हैं, किन-किन चीजों पर खर्च करते हैं यह दिखाई पड़ता है। एक तरफ व्यक्ति भूखों मर रहा है और एक तरफ एक पचास मंजिलों वाली अट्टालिका में रह रहा है। एक के सर पर छत नहीं है, एक को खाने के लिए दो जून की रोटी नही है और एक के थाली में पचास प्रकार के व्यंजन परोसे जाते हैं और बर्बाद होते हैं।

दीनदयाल जी समझाते हैं, न अर्थ का अभाव चाहिए न अर्थ का प्रभाव चाहिए, इसको उन्होंने कहा अर्थायाम। अब किसी भी शासक के लिए किसी भी अर्थशास्त्री के लिए यह चैलेंज है कि आप कैसी नीति और कैसा सिद्धांत बना कर खड़ा करते हैं, जिसके कारण से देश न अर्थ के अभाव से परेशान हो न अर्थ के प्रभाव से परेशान हो। एक और भी प्रकार से उन्होंने अर्थायाम को उत्पादन, वितरण, और भोग के बीच संतुलन के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है उत्पादन होना चाहिए, उत्पादन बढ़ाना चाहिए। पर आज कल अपने देश में उत्पादन तो बढ़ा, परन्तु कैसे बढ़ा? हम लोग ग्रोथ रेट मापते हैं 7.5 प्रतिशत ग्रोथ रेट हो गई, लेकिन यह ग्रोथ रेट केवल देश के सौ बड़े घरानों की इनकम बढ़ने से हुई है। इसको देश की ग्रोथ रेट कहेंगे क्या? दीनदयाल जी कहते हैं उत्पादन के साथ वितरण की समानता का विचार करना चाहिए, संतुलन बिठाना चाहिए। देश में समान वितरण का कोई सिस्टम बनना चाहिए और भोग का भी संतुलन रहना चाहिए।

सीखा है, इसलिए दीनदयाल जी ने समझाया हमको आने वाले समय में एक ऐसा अर्थशास्त्र खड़ा करना पड़ेगा, जिस अर्थशास्त्र के माध्यम से हम एक सम्पोषणीय उपभोग पद्धति (Sustainable Consumption Pattern) लायेंगे। हम सम्पोषणीय विकास (Sustainable Development) लाना चाहते हैं तो इसकी पूर्व शर्त है सम्पोषणीय उपभोग पद्धति (Sustainable Consumption Pattern) आना चाहिए।

दीनदयाल जी ने कहा आज अर्थ-विकृति है। हमें अर्थ-विकृति से अर्थ-संस्कृति की ओर बढ़ना पड़ेगा। कैसी अर्थ-विकृति है? उन्होंने कहा आज के अर्थशास्त्र में पढ़ाया जाता है कमाने वाला खायेगा। उसी में से निकला है योग्य को ही जीने का अधिकार है (Survival of the Fittest), जिन्दा रहने का अधिकार निठल्ले को नहीं है, अपाहिज को नहीं है, रोगी को नहीं है, वृद्ध को नहीं है। काम करोगे तो खाओगे, इसलिए नारा दिया गया 'कमाने वाला खायेगा'। दीनदयाल जी का कहना है यह गलत नारा है, अधूरा नारा है। इसके स्थान पर नारा होना चाहिए 'कमाने वाला खिलायेगा और जो जन्मा है सो खायेगा'। अपने परिवार में कोई अपाहिज है, काम न करने की स्थिति में है तो उसको जिन्दा रहने का अधिकार नहीं है क्या? तुमने कमाया तो तुम्ही खाओगे क्या? दीनदयाल जी कहते हैं यह संकुचित दृष्टिकोण है। तुमने कमाया है तो समाज में बांट कर खाओ, सबको देकर खाओ। तभी तो **'सर्वेभवन्तु सुखिनः'** आयेगा नहीं तो कैसे आयेगा। इसलिए दीनदयाल जी ने कहा, 'कमाने वाला खिलायेगा, जो जन्मा है सो खायेगा'। पर इतना ही कह कर छोड़ देते तो लोग सोचते काहे के लिए काम करें, ठीक है कोई न कोई कमायेगा और हम खायेंगे। ऐसे में निठल्ले लोगों की संख्या बढ़ जाती। 'अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।। दासमलूका कह गये सबके दाता राम।' लेकिन अगली बात दीनदयाल जी ने कही 'जो खायेगा, सो कमायेगा'। जहां तक सम्भव है कमाने में अगर तुम ठीक हो, योग्यता है, क्षमता है, तो निठल्ला नहीं रहना, बेकार नहीं बैठे रहना, देश के लिए तुम्हारा योगदान होना चाहिए।

एक नयी प्रकार की अर्थ-संस्कृति देने का काम दीनदयाल जी ने किया।

को रोटी यानी हर व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। यहां रोटी प्रतीकात्मक शब्द है। हर हाथ को काम, हर पेट को रोटी और हर खेत को पानी इन तीनो मुख्य आवश्यकताओं की पूर्ति जो देश कर लेगा, जो अर्थव्यवस्था कर लेगी वह सुखी अर्थव्यवस्था होगी और किसी भी अर्थनीति का मुख्य लक्ष्य यही होना चाहिए। आर्थिक-नीति का मुख्य लाभ किसको हो रहा है? अपने देश में रहने वाले गरीबतम व्यक्ति को अगर आर्थिक-नीति का लाभ हो रहा है तो आर्थिक नीति सही है। इसके लिए उन्होंने अन्त्योदय की बात कही। कुल मिलाकर दीनदयाल जी ने भारतीय मनीषियों की परम्परा के विचारों को उठा कर वर्तमान की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए एक अर्थदृष्टि, एक अर्थचिंतन एक अर्थव्यवस्था देने का प्रयत्न किया। आज आवश्यकता है हम उसको वर्तमान संदर्भ में समझें, पढ़ें और उसके हिसाब से अपने देश के सम्बन्ध में नये प्रकार का अर्थशास्त्र गढ़ने का प्रयत्न करें।

*****

और व्यापार की नीतियां क्यों बनीं कि बेराजगारी भी बढ़ती जाये और आर्थिक भ्रष्टाचार भी बढ़ता जाये? यदि हम देखें तो कहीं न कहीं इन सबका स्रोत यूनिवर्सिटियों में है।

मैं एक बहुत सीधी बात कहूंगी, जब हम 11वीं-12वीं से या बी.ए. से अर्थशास्त्र पढ़ाना शुरू करते हैं तब बेस लाईन सम्पूर्ण पाठ्यक्रमों की अर्थशास्त्र की क्या होती है? अर्थशास्त्र का नीतिशास्त्र के साथ कोई सम्बन्ध नहीं ही है (Economics has nothing to do with ethics) यही सबसे पहले पढ़ाया जाता है। फिर इसका धीरे-धीरे करके विस्तार होता है, विकास होता है, इसकी तात्विक चर्चा होती है, अन्यान्य आयाम इसके चर्चा में आते हैं और वो धीरे-धीरे करके मानस में, विचारों में, विचारों से व्यवहारों में और व्यवहार से सर्वसामान्य लोगों की समझ तक ऐसे व्याप्त होते जाता है। परिणाम स्वरूप सामान्य यूनिवर्सिटी में न पढ़ा हुआ व्यक्ति भी कहने लगता है कि अरे भाई नीति-नीति करोगे, प्रामाणिकता-प्रामाणिकता करोगे तो दो पैसे कमा नहीं सकोगे। इस चिन्तन का उद्‌गम स्थान कहां पर है? उद्‌गम स्थान तो पाठ्य पुस्तक में है, जहां से वो सामान्य व्यक्ति के व्यवहार तक आ गया और यह केवल बोलने की बात नहीं है, आज ऐसा ही होता है। फिर दूसरा अर्थशास्त्र के साथ जुड़ा हुआ दृष्टिकोण यह है कि पैसे की ही कीमत है, पैसे के आधार पर ही प्रतिष्ठा होती है। अतः पैसे के लिए सम्पूर्ण व्यवस्था की अर्थिक दृष्टि हो गई। Everything to be sold now सब का मार्केटाइजेशन हो गया है। विद्या बेचने के लिए है, धर्म बेचने के लिए है, सेवा बेचने के लिए है। अब सेवा, विद्या और धर्म ही बेचने लायक हो गया तो फिर अन्न, औषधि ये तो बेचने की वस्तु होगी ही इसमें कोई आश्चर्य ही नहीं है। परिणाम यह कहता है कि अन्न बिकने की वस्तु हो जाता है तो अन्न संकट पैदा होता है, पानी बिकने की वस्तु हो जाता है तो जल संकट पैदा होता है, औषधि बिकने की वस्तु हो जाती है तो अस्वास्थ्य बढ़ता है, रोग बढ़ जाते हैं। डॉक्टर का पहला व्रत यह होना चाहिए कि जहां डॉक्टर है वहां आसपास बीमारी नहीं होनी चाहिए। उसके

और अभारतीय दोनों जो कथायें हैं वह आधे तक समान चलती हैं। भगवान इस सृष्टि की रचना करने लगे तो पंच महाभूत बनाये, वृक्ष वनस्पति का निर्माण किये, पशु-पछी प्राणी, कीट-पतंग सब बनाये, लेकिन भगवान का मन नहीं भरा। उन्हें लगा कि अभी कुछ अच्छा चाहिए। अंत में जाकर उन्होंने मनुष्य को बनाया। मनुष्य को बनाने के बाद भगवान अपने ऊपर ही खुश हो गये कि अब ठीक है, मेरा यह सर्वश्रेष्ठ सृजन है। भगवान अपने ऊपर भी खुश हो गये, मनुष्य के ऊपर भी खुश हो गये। अब दोनों विचारधारायें यहां से अलग होती हैं। दोनों विचारधाराओं में मनुष्य ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ सृजन है यह तो स्वीकार्य है, परन्तु अभारतीय भगवान ने मनुष्य को बुला कर कहा देखों तुम इस सृष्टि में मेरा सर्वश्रेष्ठ सृजन हो, यह सारी सृष्टि तुम्हारी उपभोग के लिए है। तुम इसका भोग करो और खुश रहो, मजा करो, इसलिए अभारतीय मनुष्य और मानस यह सोचने लगा कि मुझे तो भगवान ने ही कहा है कि मैं प्रकृति का, पशु-पछियों का, दूसरे मनुष्यों का, सबका अपने लिए उपयोग कर सकता हूं, मार सकता हूं। यदि प्राणियों को मार कर मुझे उनकी चमड़ी से कोट पहनना है तो कर सकता हूं, इसमें हिंसा नहीं है, क्योंकि भगवान ने ही कहा है। मुझे अगर पंच महाभूतों का शोषण करना है तो कर सकता हूं। मुझे प्राणियों को मार कर कास्मेटिक्स बनाना है तो बना सकता हूं। अपराध बोध नहीं है, क्योंकि यह सब मेरे लिए ही तो बने हैं। भगवान ने पहले मेरे सुख के लिए सारी सृष्टि बनाई और फिर मुझे बनाया है और भगवान ने बताया है कि सबका उपयोग कर लेना यह न्यायोचित है। संसाधन के रूप में सबका उपयोग करना यह न्यायोचित हो गया कोई अपराध नहीं रहा।

भारत के भगवान ने मनुष्य को बुलाया और कहा मैं तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हूं, तुम मेरे सर्वश्रेष्ठ सृजन हो, मेरे प्रतिरूप हो, मैने तुमको बनाया है, तुम सबसे बड़े हो, इसलिए तुमसे जो भी छोटे हैं उन सबका रक्षण और पोषण करने का दायित्व तुम्हारा है। यानी कि तुम अपने सुख के लिए किसी को मार नहीं सकते, अपने सुख के लिए किसी का दुरूपयोग नहीं कर सकते, बड़े हो इसलिए छोटों का रक्षण करना, पोषण करना तुम्हारी जिम्मेदारी बनती है। बड़ा होने के साथ अधिकार नहीं कर्तव्य, दायित्व और त्याग यह जुड़ा हुआ है भारतीय चिन्तन में और बड़ा होने के साथ अधिकार जुड़ा हुआ है अभारतीय चिन्तन में।

ऐसी सार्वत्रिक धारणा प्रसारित की कि जिस शिक्षा का शुल्क नहीं देना पड़ता, जो मुफ्त में है वह बेकार है। वह इतना बेकार है कि इसका पैसा कोई देने के लिए तैयार ही नहीं होता। उनको समझ में ही नहीं आता था कि मूल्यवान चीजों का पैसे से भारत में मूल्यांकन नहीं किया जाता। वह मूल्यवान है इसलिए उसका पैसे में शुल्क नहीं है, यह तो समझ में ही नहीं आता। उनको शिक्षा नष्ट करनी थी, इसलिए उन्होंने सारा का सारा अर्थ सापेक्ष, अर्थ नियंत्रित किया।

तीसरा कार्य जो उन्होंने किया वह भारतीय ज्ञानधारा के स्थान पर यूरोपीय ज्ञानधारा सार्वत्रिक कर दिया। कक्षा एक से यूरोपीय ज्ञानधारा शुरू कर दी और धीरे-धीरे उसमें पढ़े हुए लोगों के मन मस्तिष्क में यह विचारधारा ऐसी बैठ गई कि धीरे-धीरे काव्य रचना भी वैसी ही होने लगी, कहानियों की रचना भी वैसी ही होने लगी, उपन्यासों की रचना भी वैसी ही होने लगी। 20वीं शताब्दी के एक गुजराती कवि की पंक्तियां बताती हूं ''कवि कहता है कि अंग्रेजों को यहां भेजकर भगवान ने हमारे ऊपर बहुत उपकार किया है। बकरी भी जाती है तो उसका कोई कान नहीं पकड़ता है इतनी सुरक्षा हो गई है (ए उपकार दयी ई वर नो) ईश्वर का हमारे ऊपर इतना उपकार है, (हरक रहे तू हिन्दुस्तान) हिन्दुस्तान तुमको तो खुशी मनानी चाहिए कि भगवान ने अंग्रेजों को हमारे यहां भेजा जिससे हमारा बकरी जैसा बेचारा प्राणी भी सुरक्षित है। यह रिफलेक्शन किसका है? यह पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से बचपन से जो विचारधारा प्रस्थापित हो गई उसके कारण है। यही सोच 1947 के बाद भी चल रही है। ये तीन जो इसके आयाम हैं इन तीनों में से एक में भी बदलाव नहीं हुआ है। शिक्षा शासन के नियंत्रण में, रेगुलेशन में, उसकी नीतियों के तहत ही चलती है।

भारत की आज की सभी यूनिवर्सिटीज आक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज के मॉडल पर बनी हैं। 1858 में अंग्रेजों ने यहां तीन यूनिवर्सिटी शुरू की मुम्बई यूनिवर्सिटी, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, मद्रास यूनिवर्सिटी। अंग्रेजों ने शिक्षा के विषय में देश भर में सवा सौ वर्ष के काल में जितना भी कार्य किया यानी अंग्रेजों द्वारा भारत में शिक्षा को प्रस्थापित करने का प्रयास 1773 से शुरू हो कर 1857 तक इतना फैल गया, प्रतिष्ठित हो गया कि उन सब को

दूकानदार, मालिक और नौकर, राजा और प्रजा, अफसर और कर्मचारी पिता-पुत्र के सम्बन्ध से जुड़े थे, यह एक परिवार था। राजा भी प्रजा का पालक था, इसलिए पिता था। पूरा समाज परिवार भावना से चलता था। भारतीय सम्बन्धों का आधार संस्कार है,एग्रिमेन्ट नहीं है। जहां पति-पत्नी भी एग्रीमेंट से जुड़ेंगे तो एग्रीमेंट करने के लिए साक्षी के रूप में किसी का हस्ताक्षर चाहिए तब पति-पत्नी एक होंगे कैसे? जबकि विवाह तो पति-पत्नी की एकात्मता की साधना है और यह एकात्मता के विस्तार के रूप में वसुधैव कुटुम्बकम तक जाती है। एग्रीमेंट के द्वारा यह संभव ही नहीं होगा और जहां यह संभव नहीं है वहां चिरंजीविता नहीं है। हम जानते हैं इतिहास प्रमाण है कि भारत चिरंजीवी है। भारत विश्व की सभी संस्कृतियों में सबसे लम्बी आयु वाला है। दुनिया में अनेक संस्कृतियाँ जन्मी भारत उनसे भी पहले था। वे काल के प्रवाह में लुप्त हो गईं उसके बाद भी भारत तो भारत है। केवल दूसरी एक संस्कृति भारत का मुकाबला कर सकती है प्राचीनता के रूप में दीर्घायु के रूप में वह है चीन की संस्कृति, परन्तु चीन में भी साम्यवाद का उदय हुआ तो चीन भी ताओ, कन्फ्यूसियस के चीन की जगह कम्युनिस्ट चीन बन गया। कम्युनिजम भी गया दुनिया से तो फिर से चीन गौतमबुद्ध और ताओ का नहीं अमेरिकन चीन हो गया और आज अमेरिका के साथ स्पर्धा कर रहा है। केवल भारत ही है जो सभी संस्कृतियों से पहले भी भारत था और आज भी है और उस समय जिस श्रद्धा से गायत्री मंत्र का उच्चारण करता था उसी श्रद्धा से आज भी कर रहा है। यह चिरंजीविता कहां से आयी? यह चिरंजीविता जो संस्कार के आधार पर, प्रेम के आधार पर, आत्मीयता के आधार पर, सेवा और त्याग के आधार पर, न केवल पति-पत्नी, न केवल माता-पिता और संताने बल्कि पूरे समाज व्यवस्था की रचना बनाई गई थी और उसी आधार पर नीतियां बनाई थी इसलिए यह चिरंजीविता सम्भव हो पायी।

1947 के बाद भारत के नेतृत्व ने कहा कि देश सादगी, ग्रामीणीकरण और यह सब जो गांधी के द्वारा आदर्श रखे गये हैं उसके आधार पर नहीं चलेगा। भारत को पश्चिम की तरफ देखना पड़ेगा, भारत को आधुनिकता पर विचार करना पड़ेगा, भारत को औद्योगिक क्रान्ति के सन्दर्भ में विचार करना पड़ेगा। आज भी विकास का रास्ता तो वही है, हमें उस पर पुनर्विचार करने की

इसलिए सबने कहा तुम भी प्रयास कर लो। उसने कुछ किया और पांच मिनट में मशीन चालू हो गई। सब आश्चर्य में पड़ गये और पूछा, तुमको फाल्ट कहां है कैसे पता चला? उसने सादा सा उत्तर दिया मशीन मेरे साथ बात करती है। मशीन ने ही बताया कि फाल्ट कहां है और यह सत्य घटना है यह कल्पना की बात नहीं है। हमारा शिक्षाशास्त्र, हमारे अध्ययन प्रक्रिया का जो शास्त्र है वह कहता है कि आप अगर पदार्थ के साथ, व्यक्ति के साथ, विचार के साथ, घटना के साथ तादात्म्य का अनुभव करते हैं, आप एक हो जाते हैं तो वह स्वयं अपना रहस्य हमारे समक्ष प्रकट करता है। यह बेसिक सिद्धान्त है ज्ञानार्जन का भी और व्यवहार का भी कि तादात्म्य का अनुभव करो। हमारी शिक्षा पद्धति में भी अध्ययन कैसे करना इसके सिद्धान्त आते हैं। उपनिषद् कहता है 'आत्मावारे श्रोतव्यो दृष्टव्यो मन्तव्यो निद्धिध्यासितव्यम्' उसके साथ एकता स्थापित करो, तादात्म्य स्थापित करो। भाष्य कहता है 'श्रवण, मनन, निद्धिध्यासन' श्रवण माने ज्ञानेन्द्रियों से शिक्षा ग्रहण करना, मनन माने अंतःकरण से उसके ऊपर विचार करना, चिन्तन करना और निद्धिध्यासन माने उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करना, यह ज्ञानार्जन के चरण हैं। भाष्य कहता है ''श्रवणात् दशगुणं मननं' श्रवण से जो ज्ञान मिलता है उससे दस गुना अधिक प्रभावी मनन से होता है। अतः मनन करो, चिन्तन करो। 'मननात् सहस्त्र गुणं निद्धिध्यासनम्' मनन से भी निद्धिध्यासन हजार गुना अधिक प्रभावी है। तादात्म्य का अनुभव कर जब आप समाज में जाते हैं तो अनन्त गुना ज्ञानार्जन होता है।

ये केवल उपनिषद् की बात नहीं है। मैं उन्नीसवीं शताब्दी का उदाहरण देती हूं। मैंने एक पैराग्राफ पढ़ा जो श्री अरविन्द का था। उन पांच-छः पंक्तियों में लिखा था ''जब किसी विचार को तुम समझ नहीं पा रहे हो कठिन लगता है तो विचार करना छोड़ दो, समझने का प्रयास भी छोड़ दो, एकात्म बन जाओ केवल उसी में ध्यान केन्द्रित करो, एक बार पढ़ो, पांच बार पढ़ो, दस बार पढ़ो, पढ़ते रहो, पढ़ते समय विचार मत करो, पढ़ते समय समझने का प्रयास मत करो और एक समय में वह विचार अपने आप तुम्हारे सामने प्रकट हो जायेगा।'' आज कल छात्रों को बहुत बातें कठिन लगती हैं, कोई नया विचार, हमको भी कठिन लगता है। श्री अरविन्द ने जो लिखा यह ज्ञानार्जन क्लिक होना जिसे कहते हैं

इसको कहते हैं अनुभूत ज्ञान, यह क्लिक होता है, यह आनन्द होता है।

आइन्स्टाइन ने जब कहा था रिवेका-रिवेका तो वह रियलाइज हुआ था, इसलिए दक्षिणा-मूर्तिस्तोत्र में लिखते हैं ''विचित्रं वट तरूमूले वृद्धाः शिष्या, गुरुर्युवा गुरुस्तु मौनंव्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्न संशया''। कैसा आश्चर्य है वट वृक्ष के नीचे गुरु और शिष्य बैठे हैं। अध्ययन-अध्यापन चल रहा है। शिष्य वृद्ध हैं और गुरु युवा हैं। गुरु मौन हैं लेकिन शिष्यों के सारे संशय समाप्त हो गये। यह क्या है? अन्दर से ज्ञान का आदान-प्रदान। यहां तक भारत गया है, यहां तक भारत जा सकता है। यह सारा कक्षा कक्ष में आज भी घटित हो सकता है, 21वीं शताब्दी में भी हो सकता है। अध्यापक और अध्येता ऐसे चाहिए। ऐसे अध्यापक और अध्येता तथा ऐसी अध्ययन प्रक्रिया से भारतीय ज्ञानधारा के आधार पर जो ज्ञान का आदान-प्रदान होता है वही शिक्षा व्यक्ति का, समाज का, देश का, विश्व का कल्याण करती है। यह जो आत्मतत्व के आधार पर सारी शिक्षा की रचना है यह भारत की विशेषता है, यह भारत का भारतीयपना है।

दूसरा बिन्दु है अध्ययन और अध्यापन में अध्ययन प्रमुख है। अध्यापन, अध्ययन का अनुसरण करता है। तैत्तरीय उपनिषद् में समीकरण आते हैं 'आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या संधिः। प्रवचनँ्संधानम्।' शिक्षा उसी को कहते हैं जो पढ़ने वाले और पढ़ाने वाले के बीच में आदान-प्रदान होता है। तो आचार्य और छात्र का सम्बन्ध कैसा है? उन्होंने उदारहण देकर बताया कि जिस प्रकार भाषा में सन्धि होती है, जैसे गणेश शब्द है, वह दो शब्दों का बना हुआ है। गण और ईश, लेकिन गण का अ और ईश का ई यह दो शब्द जो हैं उनकी सन्धि होकर तीसरा शब्द बनता है गणेश। अब यह दो शब्द नहीं रहे यह एक शब्द बन जाता है। गण पूर्व रूप है आचार्य पूर्व रूप है, ईश उत्तर रूप है अंतेवासी शिष्य उत्तर रूप है। दोनों की सन्धि, प्रवचन अर्थात अध्ययन-अध्यापन से दोनों मिलते हैं और परिणाम उसकी विद्या है। किसका परिणाम विद्या है? आचार्य और छात्र के आत्मीय सम्बंध का परिणाम विद्या है। कोई भी परिस्थिति हो आचार्य और छात्र का आत्मीय संबन्ध आवश्यक है। शिष्य यदि अध्यापक का मानस पुत्र नहीं हुआ, उनके बीच में आत्मिक संबन्ध नही बने तो निष्पन्न ज्ञान नहीं होता और कुछ होता है। आज इस ज्ञान को छोड़ कर और कुछ ही

प्रकार के शिक्षक होते हैं वेतन के शिक्षक। उनकी सोच होती है कि हमें इतना ही वेतन मिलता है तो हम इससे अधिक कैसे पढ़ायें। दो प्रकार के शिक्षक तो मिलते हैं, विषय के शिक्षक भी हैं और वेतन के शिक्षक परन्तु छात्रों के शिक्षक और राष्ट्रीय शिक्षक जब तक नहीं बनेंगे तब तक शिक्षा भारतीय नहीं बनेगी। जब तक आचार्य के प्रति अत्यांतिक आदर की भावना से युक्त विनयशील, सेवा करने के लिए तत्पर, श्रद्धावान, और संयमित जीवन जीने वाले छात्र नहीं होंगे तब तक भी शिक्षा भारतीय नहीं होगी। भारतीय शिक्षा के लिए यह दोनो अनिवार्य हैं। इनको छोड़कर किसी भी प्रकार की अच्छी शिक्षा की कल्पना हम नहीं कर सकते। यह कैसे सम्भव हो सकेगा, यह हमारे लिए विचारणीय विषय तो है ही और चिन्ता का भी विषय है।

चौथा मुद्दा हमारे सामने चुनौतियों का है। शिक्षा स्वायत्त नहीं है और बहुत जल्दी होने वाली भी नही है, कम प्रयासों से भी होने वाली नहीं है और व्यक्तिगत प्रयासों से तो बिल्कुल भी होने वाली नहीं है। कैसे होगी वह हमें देखना है। दो बातें इसके लिए आवश्यक हैं। पहली बात है शिक्षक को दायित्वबोध होना। यह छात्र, यह ज्ञान और यह समाज और देश हमारे कारण से ऐसा चल रहा है और हमारे कारण से वह अच्छा चलेगा। दायित्वबोध यानी दायित्व को स्वीकार करने की मनःस्थिति आज व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक शिक्षक में जागृत करने की आवश्यकता है। दूसरा इस शिक्षा को स्वायत्त बनाने के लिए सामूहिक प्रयास भी करने पड़ेंगे, क्योंकि ज्ञान की सर्वोपरिता जब तक स्थापित नहीं होगी तब तक देश-दुनिया व्यक्ति, ठीक से चल ही नहीं सकते। पिंजरे के अन्दर रह कर हम कितनी भी अच्छी बातें करें वो अच्छी नहीं होती। जो बात मजबूरी या गुलामी में करनी पड़ती हैं वह मूलतः अच्छी हो ही नहीं सकती। दूसरी चुनौती है शिक्षा का विचार एकान्तिक नहीं हो सकता। कम से कम समाज व्यवस्था, राज्य व्यवस्था और अर्थव्यवस्था इन तीन बातों के सन्दर्भ में ही शिक्षा का विचार करना पड़ता है। अर्थ-व्यवस्था नहीं बदली, समाज व्यवस्था नहीं बदली और राज्य व्यवस्था नहीं बदली तो शिक्षा में परिवर्तन नहीं हो सकता। लेकिन अर्थव्यवस्था को, राज्य व्यवस्था को, समाज व्यवस्था को बदलेगा कौन? इसका दायित्व समाजशास्त्र के

परन्तु आज की शिक्षा में वह अप्रासंगिक है, उसका कहीं संदर्भ के नाते उपयोग ही नहीं है। उन्हें अप्राप्य दुर्लभ पुस्तकें मानकर किन्ही ग्रन्थालयों में रख दिया जाता है, जिसकी कभी संदर्भ सूची भी नहीं बनती, क्योंकि शोध नहीं लिखे जाते, पाठ्यक्रम नहीं बनते, इसलिए संदर्भ के नाते इन पुस्तकों की ग्रन्थों की सूची भी नहीं बनती, अतः हमें लगता है कि सामग्री नहीं है।

सामग्री है बहुत कुछ लिखा गया है। मैं प्राचीन काल की बात नहीं कर रही हूं। आज से सौ वर्ष पूर्व के भी यदि आप ग्रंथों की सूची देखेंगे तो ध्यान में आयेगा कि सौ वर्ष पहले विशेष रूप से सामाजिक शास्त्रों में कितना अध्ययन किस सरोकार से, किस चिन्ता से हुआ है। उदाहरण स्वरूप दैशिक शास्त्र को ही ले लीजिए। यह ग्रन्थ 1921 में प्रकाशित हुआ है, बहुत छोटा सा है, परन्तु मूल विचार उसमें है। भारत में अंग्रेजी राज्य यह पुस्तक तो इतिहास के अध्यापकों को मालूम होगी, इसे सबको पढ़ना चाहिए। भारत में अंग्रेजी राज्य 1921 में प्रकाशित हुई, ब्रिटिश सरकार ने उसके ऊपर प्रतिबन्ध लगाया। 1954 में भारत सरकार के सांस्कृतिक विभाग ने इसका पुनः प्रकाशन किया आज इसका पुनर्मुद्रण हुआ है, लेकिन इतिहास के एक भी पाठ्यक्रम में इसका संदर्भग्रन्थ के रूप में स्थान नहीं है, क्योंकि उस प्रकार का इतिहास ही हमारे पाठ्यक्रम का हिस्सा नहीं है। हिन्दू का समाज रचनाशास्त्र बहुत बड़ा वाल्यूम है और बहुत मूल बातों की उसमें तात्विक दृष्टि से चर्चा है। इसमें पाश्चात्य समाज चिंतकों के सैकड़ों ग्रन्थों का संदर्भ लेकर यह विवेचन किया गया है, हिन्दूओं का समाज रचनाशास्त्र, हिन्दू भारतीय विवाहशास्त्र, आदि का विवेचन किया गया है। हिन्दूओं का अर्थशास्त्र, राज्यशास्त्र 1921 में प्रकाशित हुआ है। धर्मपाल जी ने तो बाद में ब्रिटिशों के इकट्ठे किये हुए डाक्यूमेंट के आधार पर ग्रन्थ तैयार किये हैं। ऐसे डाक्यूमेन्ट्स और ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध हैं जो औपनिषदिक और पारंपरिक चिन्तन के आधार पर उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लिखे गये हैं। यह सब डिस्कोर्स हुआ है इस चिंता के साथ कि भारत के युवकों को यह सब पढ़ना चाहिए। इसके आधार पर प्राथमिकशाला की पुस्तकें बनी हुई हैं। सौ वर्ष पहले की कक्षा एक और दो की गुजराती भाषा की पाठ्यपुस्तक मैने देखी, उसके रचयिता का नाम जब मैने पढ़ा तो मुझे आश्चर्य भी हुआ और चिंता

बाल्यकाल में पाँच, सात, दस वर्ष की आयु में आदतें बनती हैं। उस समय यदि आदत विपरीत बनी तो बड़े होने के बाद बुद्धि से कुछ भी सीख लिया तो भी आदत नहीं बदलेगी। ये आदतें क्रियात्मक रूप से सिखानी होती हैं। पर्यावरण में शरीर विज्ञान में और स्वास्थ्य विज्ञान में पढ़ाया जाता है, सीधा बैठना चाहिए। सीधा क्या होता है? समंकायम् शिरोग्रीवं होता है। इससे क्या होता है? तो श्वसन मार्ग दबता नहीं है, इसलिए श्वसन ठीक होता है, अतः सीधे बैठना चाहिए। लेकिन पढ़ाया किसके लिए जाता है? परीक्षा में फिल इन द ब्लैंक्स पूछा जायेगा तो उसको भरने के लिए, इसलिए फिल इन द ब्लैंक्स तो सही होता है और नम्बर भी मिल जाता है, लेकिन जिन्दगी भर टेढ़े ही बैठते हैं और सीधा होने में कष्ट होता है, टेढ़े होने में आराम लगता है। हमारी सबकी यही स्थिति होती है कि सीधा बैठने को कहो तो कमर दर्द करती है, घुटने दर्द करते हैं, कन्धे दर्द करते हैं, टेढ़े बैठने मे आराम मिलता है। जैसी शरीर की स्थिति है वैसी मन की स्थिति है। सीधा होना पड़ता है तो कई प्रकार के कष्ट होते हैं और टेढ़े में सुविधा होती है, आराम होता है। आदतें ऐसे बनती है।

इन सारे विषयों को व्यावहारिक बनाना, जब विद्यार्थी तर्क करने लगता है तब सारे विषयों को उपदेश के रूप में नहीं चर्चा के रूप में लाना। क्यों यन्त्रों से पैदा हुई वस्तु का प्रयोग नहीं करना? क्यों बड़े कारखाने में पैदा हुई चीज का प्रयोग नहीं करना? क्यों कारीगर के हाथ से बनाये हुए जूते और दर्जी के सिले हुए कपड़े पहनना? अगर हम यन्त्रों से बने हुए कपड़े, जूते पहनते हैं, यदि हम रबर, प्लास्टिक के जूते पहनते हैं, यदि हम बड़े कारखानों में बने जूते पहनते हैं तो हम दर्जियों का अपराध कर रहे हैं, हम पर्यावरण का अपराध कर रहे हैं, हम मानवता का अपराध कर रहे हैं। सुविधा तो होगी लेकिन सुविधा किस कीमत पर यह प्रश्न पूछना किशोर अवस्था में सिखाया जाता है। हमारे अर्थ-चिन्तन को, समाज-चिंतन को, राज्य-चिंतन को हाईस्कूल कक्षाओं में चर्चा के रूप में तर्क के रूप में लाना पड़ेगा और इस चिंतन को मूल्यांकन और निष्कर्ष के रूप में महाविद्यालयों में लाना पड़ेगा। शिशु से लेकर युवा अवस्था की शिक्षा का एक क्रम बना कर किसी भी विषय को इन विभिन्न स्वरूपों में प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। इसका प्रारम्भ कौन करेगा? इसका प्रारम्भ भी युनिवर्सिटी में

को दास बनाने के लिए पश्चिम पूरे विश्व में गया। भारत चिरंजीवी है, जबकि पश्चिम दुनिया को मार कर स्वयं भी मरने की दिशा में जा रहा है, यह अन्तर है। इसे हम आधुनिकता न कहें, इसे हम वैश्विकता न कहें। हमेशा से जो भगवान ने भारत को दायित्व दिया है कि ज्ञान के माध्यम से, संस्कारों के माध्यम से विश्व को अपने ही जैसा श्रेष्ठ बनाओ यह दायित्व पांच हजार वर्ष पहले भी था, आज भी वही दायित्व है। हम सब में इस दायित्व को वहन करने के लिए सामर्थ्य हो ऐसी बुद्धि, शक्ति भगवान सबको दें।

*****

इसलिए अपने देश की जरूरतों के मुताबिक नीति बनायी जानी चाहिए।

दीनदयाल उपाध्याय जी ने अपनी बात को आयुर्वेद के सिद्धान्त ''यद्देशस्य यो जन्तुः तद्देशस्य तस्यौषधम'' का उदाहरण देकर स्पष्ट किया था कि हर देश की परिस्थितियाँ दूसरे देशों से समानता रखने के बावजूद कुछ अलग होती हैं, इसलिए दूसरे देशों के अनुभव के साथ ही अपने देश की अलग परिस्थितियों को महत्व दिया जाना चाहिए। यह सिद्धान्त सरकारी कामकाज के लिए नीति निर्माण हेतु जितना प्रासंगिक है उतना ही विधि निर्माण के लिए भी जरूरी है। संविधान और कानून अपने देश के लोगों की बेहतरी के लिए बनाए जाते हैं, उसमें राष्ट्रहित ही सर्वोच्च होता है। संविधान का निर्माण करते समय हमारे संविधान निर्माताओं ने अपने देश की विशिष्ट राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों का विशेष ध्यान रखा।

जब हम आजाद हुए थे उस समय हमारे यहाँ तकरीबन 560 छोटी-बड़ी रियासते थीं। उनमें से कई अलग देश के रूप में स्वतंत्र रहने का मंसूबा पाल रखा था। हैदराबाद जैसी कुछ रियासतों के मामले में तत्कालीन गृहमंत्री सरदार पटेल को विशेष प्रयास करना पड़ा। उस समय देश को एकजुट रखना सबसे बड़ी चुनौती थी। थोड़ी सी भी चूक से राष्ट्र बिखर सकता था। ऐसे हालात में अमेरिका की तर्ज पर राज्यों को बहुत अधिक अधिकार सम्पन्न होने से विघटनकारी तत्वों को मजबूती मिलती। उन हालात में केन्द्रीय सरकार को कानूनी रूप से भी अधिक सम्पन्न बनाने की जरूरत थी ताकि देश को एकजुट रखा जा सके। हमारे संविधान में अपनी विशिष्ट राजनैतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उसे अन्तिम रूप दिया गया। यही कारण है कि जहाँ आस-पास के देशों में पिछले 68 वर्षों में कही पर भी लोकतंत्र सुरक्षित नहीं रह पाया वहीं हमारे देश में यह लगातार पल्लवित ओर पुष्पित हो रहा है ।

राजनैतिक व्यवस्था को मजबूती देने में संस्कृति की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। संस्कृति और राजनैतिक व्यवस्था का सामंजस्य एक दूसरे को ताकत देते हैं, इसलिए संविधान जैसे राजनैतिक दस्तावेज को अन्तिम रूप देने में सांस्कृतिक लोकस्वभाव को समझना जरूरी होता है। एकात्म मानववाद इस बात पर बल देता है कि ''भारत की संस्कृति एकात्मवादी है, अतः

मृत्युदण्ड की व्यवस्था हो तो यह गैर आनुपातिक हो जाएगा। उसी तरह जघन्य अपराधों के लिए यदि जुर्माने की सजा तय कर दी जाए तो यह भी सही नहीं है। इसलिए दण्ड का निर्धारण अपराध की गम्भीरता को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए। अपराध के पीड़ित को यदि उचित न्याय नहीं मिलेगा तो राज्य व्यवस्था से भरोसा उठ जाएगा। इसी तरह छोटे से अपराध के लिए गैर अनुपातिक रूप से अत्यधिक कठोर दण्ड हो तो भी लोगों का भरोसा कम होता है तथा अपराधी के प्रति सहानुभूति पैदा होती है।

समाज और कानून के बीच गहरा अन्तर्सम्बन्ध होता है। धर्म समाज के नियमन के कई साधनों में से एक है। सामाजिक परम्पराएं भी समाज के नियमन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं, किन्तु कानून का महत्व पिछले सौ वर्षों में बहुत अधिक बढ़ा है, इसलिए कानून के निर्माण और उसकी सफलता के लिए समाज को समझना बहुत जरूरी है। दीनदयाल उपाध्याय जी के एकात्म मानववाद के अनुसार समाज स्वयंभू है, क्योंकि उसे व्यक्ति ने नहीं बनाया वरन् वह स्वतः स्फूर्त है। उनके अनुसार, पश्चिम का सामाजिक समझौते का सिद्धान्त गलत है, क्योंकि समाज ज्वाइंट स्टॉक कम्पनी जैसा कृत्रिम संगठन नहीं है, इसकी अपनी हस्ती है। यह व्यक्ति की ही तरह पैदा होता और विकसित होता है तथा व्यक्ति की तरह ही इसमें बुद्धि, आत्मा और शरीर होता है। अतः कानून बनाते समय उस समाज की प्रकृति, उसके चरित्र और लोकाचार को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।

दीनदयाल उपाध्याय जी राज्य के लोक कल्याणकारी प्रकृति के समर्थक तथा निरंकुशता के प्रबल विरोधी थे। उनकी मान्यता थी कि राज्य जब सभी प्रकार की विभूतियों को अपने अधीन कर लेता है तब वह समाज के लिए अत्यंत घातक होता है। इतना ही नहीं उनका यह भी मानना था कि राज्य की शक्ति और क्षेत्र यदि अमर्यादित हो गए तो सम्पूर्ण जनता राज्यमुखापेक्षी बन जाती है। इसका स्पष्ट संदेश यह है कि राज्य को कानून बनाते समय बहुत सावधानी बरतनी चाहिए। उसे केवल वहीं पर दखलंदाजी करनी चाहिए जहां ऐसा करना बहुत जरूरी हो। गैरजरूरी दखलंदाजी से सामाजिक निष्क्रियता का खतरा बढ़ जाता है, क्योंकि राज्य के ऊपर समाज की

हुए उन्होंने कहा कि राष्ट्र का अस्तित्व उसके नागरिकों के जीवन का ध्येय भूत भाव है। इसीलिए वे इसे आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि बाहरी बदलाव होते रहते हैं, किन्तु राष्ट्र बरकरार रहता है। किसी भी सरकार द्वारा बनाया गया कानून या संविधान संशोधन केवल उसी सरकार के लिए नहीं अपितु सभी के लिए सम्माननीय है। एक सरकार द्वारा तय की गयी नीति दूसरी सरकार के लिए भी बाध्यकारी है। बदली हुयी परिस्थितियों में यदि उसमें कोई संशोधन करने की आवश्यकता है तो संविधान द्वारा निर्धारित पद्धति से राष्ट्र के भाव को अन्तर्निहित करते हुए ही उसमें परिवर्तन किया जा सकता है।

आधुनिक विधिशास्त्र में राज्य को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हैं। वह अन्य सभी संस्थाओ में सर्वोपरि माना जाता है। एकात्म मानववाद इस धारणा से असहमति व्यक्त करता है। दीनदयाल जी की मान्यता थी कि राज्य ही सब कुछ नहीं है। उनकी मान्यता थी कि राज्य, राष्ट्र का एक प्रतिनिधि है, यह उसका एक महत्वपूर्ण उपांग है, किन्तु वह सर्वोपरि नहीं है। उनका मानना था कि राज्य को राष्ट्र का एकमात्र प्रतिनिधि मान लेने से वह एकाधिकारवादी हो जाता है और दूसरी संस्थाएं नगण्य हो जाती हैं। इसलिए एकात्म मानववाद राज्य की दूसरी संस्थाओं को भी प्रश्रय देने और उन्हें ताकतवर बनाने का समर्थक है। जब समाज की राज्य पर निर्भरता कम होती है, तो समाज आत्मनिर्भर होता है, समाज का स्वाभिमान बोध बढ़ता है तथा राज्य पर काम का बोझ और उनकी जटिलताएं कम होती हैं, जिससे उसे विकास की नयी योजनाएं बनाने और उनके क्रियान्वयन में आसानी होती है।

दीनदयाल उपाध्याय जी राज्य की अन्य संस्थाओं को ताकतवर बनने के साथ ही उन्हें सावधान करना चाहते थे कि आत्मनिर्भर होने का मतलब राज्य के प्रति उदासीन होना नहीं होता। डा. भीमराव अम्बेडकर के हवाले से उन्होंने कहा था कि हमारी पंचायते इतनी महत्वपूर्ण रहीं कि दिल्ली के तख्त के प्रति हम उदासीन हो गए। राज्य के प्रति हमें जितना सचेष्ट व सतर्क होना चाहिए उतना हम नहीं रह पाए, इस कारण हमें लम्बे समय तक गुलाम रहना पड़ा। अतः स्थानीय विकास के लिए छोटी-छोटी संस्थाएं अत्यंत महत्वपूर्ण होने के बावजूद समजा को राज्य की केन्द्रीय सत्ता के प्रति सचेष्ट और सतर्क रहना चाहिए।

*****

आज आजादी के 70 वर्ष बाद भी हम पश्चिम के प्रतिमानों पर ही चल रहे हैं। हमारी पार्लियामेंट, हमारे विश्वविद्यालय, हमारे न्यायालय सभी का मानक सभी का आदर्श पश्चिम का ही है। इससे बाहर कैसे निकला जा सकता है? इसके लिए दीनदयाल जी कहते हैं यह जो पश्चिम से धारा आयी है इस धारा ने अजीबो-गरीब तरीके से मनुष्य को राज्य का दास बना दिया है। कैसे हो गया दास? कहा गया कि सब लोग कानून से चलेंगे। कानून कौन बनायेगा? कानून राज्य बनायेगा। कानून को लागू कौन करेगा? कानून को राज्य ही लागू करेगा। राज्य एक बहुत कमजोर औजार है जो मानव को सुखी नहीं कर सकता हैं, इसलिए हमें यह समझना पड़ेगा कि मानव को सुखी करने के लिए कुछ और औजार है और वह औजार है संस्कृति। भारत राज्याधारित समाज नहीं था और न है। भारत संस्कृति आधारित समाज था और है। आज भी हम परिवार चलाते हैं। आज परिवार कोई संवैधानिक इकाई नहीं है। भारत के संविधान में परिवार का उल्लेख भी नहीं है, लेकिन आज भी भारत की सबसे ताकतवर व्यवस्था परिवार है। संस्कृति के कारण भारत की विवाह व्यवस्था ताकतवर है। संस्कृति के कारण माता-पिता, माता-पुत्र, पिता-पुत्र, भाई-बहन इनके रिश्ते ताकतवर हैं। इनके लिए कोई कानून नहीं बनता और बने हुये कानून काम नहीं करते। दहेज होना चाहिए या नहीं होना चाहिए यह मैं नहीं कह रहा हूँ, लेकिन यहां के लोगों के मन में, संस्कार में बेटियों को देने का भाव है तो देना ही है। उसे आप दहेज नाम दें या न दें। कानून कहता है कि सभी संतानों का सम्पत्ति में बराबर का अधिकार हैं यानी बेटे और बेटी का बराबर अधिकार हैं। समाज इसे मानता है क्या? समाज इसे नहीं मानता। भारत की चेतना कहती है कि भाई-बहन का स्नेह महत्त्वपूर्ण है। इस स्नेह को बने रहना चाहिए। सम्पत्ति को लेकर उनके बीच तनाव नहीं होना चाहिए। इसलिए बेटियों को सहज रूप से देने की प्रथा प्रचलित हुई। दहेज प्रथा में मांग या मोल-भाव बुरी चीज है, दहेज प्रथा में लोभ-लालच बुरी चीज है, दहेज प्रथा में दिखावा बुरी चीज है, लेकिन देने का भाव बुरा नहीं है, इसलिए भारत के समाज शास्त्र को समझें, भारत की संस्कृति को समझें।

क्या कारण था कि पाँच सौ साल पहले एक योरोपियन भारत को खोजने के लिए अपने देश से बाहर निकला। क्यों खोजना था उसे भारत? क्योंकि उसने

है, परन्तु इनके प्रकार बदलते है। हर युग में इनके प्रकार बदल जाते हैं, इनके भाष्य बदल जाते हैं। अतः आज के मानव की पीड़ा क्या है और इस पीड़ा का जवाब हम एकात्म मानववाद से दें सकते हैं क्या? यही आज का प्रश्न है।

मैं आप को एक छोटा सा आंकाड़ा देना चाहूँगा। 21वीं सदी में दुनिया का सबसे विकसित, सबसे ताकतवर और सबसे सम्पन्न देश अमेरिका जहाँ धरती के 3 प्रतिशत मानव निवास करते हैं, वहाँ एक शोध हुआ। उस शोध के अनुसार अमेरिका में रहने वाली 3 प्रतिशत जनसंख्या धरती के 23 प्रतिशत संसाधनों का उपभोग करती है और 27 प्रतिशत प्रदूषण उत्पन्न करती है। विश्व के अनेक देशों में सेनायें रहती हैं, पुलिस रहती है उनके पास अस्त्र-शस्त्र रहता है, लेकिन अमेरिका एक ऐसा देश है जहाँ हर व्यक्ति के पास शस्त्र है। दुनिया में सर्वाधिक शस्त्र अमेरिका के नागरिकों के पास है, क्योंकि वहाँ हर एक व्यक्ति को हर एक से खतरा है। पत्नी पिस्तौल रखकर सोती है ताकि पति उसके साथ बदसलूकी न करे। जब बच्चा स्कूल जाता है तो उसे पहला पाठ पढ़ाया जाता है कि जब तुम्हारे माता-पिता तुम्हें प्रताड़ित करें तो यह पुलिस का नम्बर है, तुम फोन करना। चाइल्ड राइट्स की समस्या कहाँ से आती है, बच्चों के अधिकार का हन्ता कौन है? बच्चों के अधिकार के हन्ता हैं उनके माता-पिता। वहाँ माता-पिता पालक नहीं दुश्मन हैं। पति-पत्नी में एकात्मता नहीं हैं। अमेरिका के समाजशास्त्री परेशान हैं कि वहाँ आत्म-हत्या और किशोर अपराध बढ़ रहे हैं। ऐसा कोई साल नहीं जाता है जब 5-10 विद्यालयों में विद्यार्थी आपस में पिस्तौल न चलाते हों। सहनशीलता नाम की चीज नहीं है। यह स्थिति है अमेरिका की और उनके जीवन पद्धति की।

आज ग्लोबलाइजेशन का नारा दिया जा रहा है। इस ग्लोबलाइजेशन की जरूरत किसे थी? इसकी मांग किसने की? किसी एक एशियाई विद्वान, अर्थशास्त्री या समाजशास्त्री, राजनेता या विधिवेत्ता का नाम बताइये जिसने ग्लोबलाइजेशन की मांग की हो? किसी एशियन या अफ्रीकन ने ग्लोबलाइजेशन की मांग नहीं की। ग्लोबलाइजेशन की मांग की यूरो-अमेरिकन वर्ग ने। क्या उन्हें मानव की विकास की बहुत चिंता थी? नहीं, बल्कि उनका 500 वर्षों का जो इतिहास रहा है, जिसमें उनके पूर्वजों ने दुनिया

शोध करो, विचार करो कि हर व्यक्ति के हाथ में काम हो, हर व्यक्ति क्रियाशील हो। कोई बेकार न बैठे, हर व्यक्ति को उसके स्वभाव के अनुसार कार्य मिले। आज स्थिति यह है कि पहले ही यह तय हो जाता है कि तुमको यह नहीं करना है। तुम्हारी शरीर विज्ञान में कोई रूचि हो या न हो लेकिन तुम्हारें माँ-बाप की इच्छा है कि तुम्हें डॉक्टर बनना चाहिए, तुम्हारी यंत्र में कोई रूचि हो या न हो लेकिन तुम्हारे माँ-बाप की इच्छा है कि तुम्हें इंजीनियर बनना चाहिए। आज जब हम किसी छात्र से पूछते हैं कि तुम्हें आगे क्या करना हैं तो उसका उत्तर होता है किसमें अधिक संम्भावना हैं। मेरी रूचि हो या नहीं इस पर मेरा कार्य निर्भर नहीं करता, अपितु आज किसमें अधिक संम्भवना है यह देखा जाता है। इस परिस्थिति में व्यक्ति की सृजनशीलता बढ़ेगी या घटेगी?

दीनदयाल जी का कहना है कि हर व्यक्ति में जो सृजनशीलता है उसका सम्मान होना चाहिए। सृजनशीलता को नष्ट करने वाली व्यवस्था अमानवीय है। वे सारे तत्त्व जो एकात्मता को आहत करते हैं वे अमानवीय हैं और वे सारे तत्त्व जो एकात्मता को पुष्ट करते हैं वे मानवीय हैं। इसलिए एकात्म मानववाद सरकारों से न अपेक्षा करता है और न मांग करता है। दीनदयाल जी कहते हैं सरकारों का काम हैं समाज की सहायता करना। सरकारों का काम है समाज और संस्कृति के पोषण में खड़ा होना। सरकारों का काम समाज को संचालित करना नहीं है। यदि सरकार से संचालित समाज होगा तो समाज बड़ी चीज है और सरकार छोटी चीज है। छोटी चीज बड़ी चीज का संचालन नहीं कर सकती। यदि छोटी चीज बड़ी का संचालन करेगी तो उसे छोटा बनाने का कोशिश करेगी, क्योंकि वह बड़ी का संचालन कर ही नहीं सकती।

दीनदयाल जी भारत के नीति निर्माताओं से आग्रह करते हैं कि पश्चिम से आयी राज्य आधारित, केन्द्रीकृत व्यवस्था को ज्यों के त्यों स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन क्या पश्चिम के इतने सारे विचार और उसकी यात्रा निर्थक है? यह बेकार नहीं है, यह मानवकृत ही है, परन्तु इसे देखकर समझना चाहिए कि गलती कहां हुई है और कहां हो रही है। पश्चिम को कटघरे में खड़ा करना दीनदयाल जी की नियत नहीं है। जब वे पश्चिम की आलोचना करते हैं तो वे पश्चिम के दुश्मन नहीं हैं, पश्चिम के

बड़ा महत्त्व था जितना आज हजार की नोट का हुआ करता है। बाबा ने सोचा यह पाँच का नोट इतने छोटे बच्चे के पास कहां से आयेगा, हो सकता है इसने चोरी की हो। बाबा ने अपनी दुकान बंद किया और बच्चे को साथ लेकर उसके घर चले गये। उन्होंने बच्चे के मां-बाप को समझाया कि इतना पैसा नहीं देना चाहिए। इससे बच्चे का संस्कार खराब हो जायेगा। यदि आज हम सोचें तो वह बाबा एक व्यापारी था। व्यापारी के लिए तो सबसे अच्छा ग्राहक वह है जो अधिक से अधिक व्यय करे, लेकिन बाबा ने यह सोचा कि मेरे पाँच पैसे की कमाई से यह अधिक घाटे का सौदा है कि समाज का एक बच्चा बिगड़ रहा है। आज हम छोटे लाभ के प्रति लोलुप हो गये हैं और उस बड़े लाभ की उपेक्षा करते हैं। व्यापार के लिए सबसे अच्छी स्थिति वह होती है जब सप्लाई कम हो और मांग अधिक हो। राजस्थान में सबसे अधिक डिमांड पानी की होती है, लेकिन वहां के व्यापारियों ने क्या किया? वहां के व्यापारियों ने कहा कि पानी का व्यापार नहीं करेंगे। पानी पर हम स्वयं व्यय करेंगे। अपनी कमाई से तालाब खुदवायेंगे, कुँआ खुदवायेंगे, प्याऊ लगवायेंगे। आज के आर्थिक व्यवस्था के अनुसार वे लोग बेवकूफ थे।

भारतीय चिंतन पद्धति में समाज का अंगभूत घटक हूँ। मैं स्वाभिमानी, स्वावलम्बी, स्वायत्त व्यक्तित्व हूँ और समाज का घटक हूँ, प्रकृति का हिस्सा हूँ यह मेरा पूरा परिचय है। इस पूरे परिचय को एक शब्द में कहना हो तो मैं मानव हूँ और एकात्म हूँ, यही है दीनदयाल जी का एकात्म मानववाद। आज मानवता जिन-जिन समस्याओं से जूझ रही है वे समस्यायें उन विचारधाराओं की देन है जिन विचारधाराओं ने 19वीं-20वीं सदी में शासन किया। 19वीं और 20वीं सदी में किये गये उनके कार्यो का परिणाम हम 21वीं सदी में भोग रहे हैं। इन समस्याओं से मुक्त होना है तो इन विचारधाराओं से मुक्त होना होगा। एक व्यक्तिवादी और दूसरी समाजवादी दोनों व्यवस्थाओं की परीक्षा हो चुकी है। हमें तीसरा रास्ता खोजना होगा जो पं. दीनदयाल जी का एकात्म मानववाद है। उसे समझना, अनुसंधान करना, प्रयोग करना और उसको लागू करने की कोशिश करना यह हमारी पीढ़ी का काम है।

*****

अधिवेशन में सिद्धान्त और नीति दस्तावेज को पारित किया। उपाध्याय के ये चार व्याख्यान बौद्धिक जगत में एकात्म मानववाद के नाम से प्रसिद्ध हुये। बाद में ऐसा लगा कि वाद शब्द किसी भी विचार सारिणी के आगे दीवार बन जाता है और चिन्तन की निरन्तरता को अवरुद्ध करता है, इसलिये एकात्म मानववाद के स्थान पर एकात्म मानव दर्शन शब्द का प्रयोग किया गया। अर्थनीति में प्रचलित दो विचार धाराओं पूँजीवाद और साम्यवाद/मार्क्सववाद से बेहतर एकात्म मानव दर्शन हो सकता है, विश्वविद्यालयों में इस पर भी चर्चा प्रारम्भ हो गई। वैसे भी दीनदयाल उपाध्याय पूँजीवाद और मार्क्सवाद को एक ही सिक्के के दो पहलू मानते थे। उनका मानना था कि इन दोनों चिन्तनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। मोटे तौर पर दोनों दर्शन मनुष्य को एक आर्थिक प्राणी मानकर चलते हैं और मानते हैं कि यदि उसकी भौतिक आवश्यकताएं पूरी हो जायें तो वह सुखी हो सकता है। दोनों दर्शनों में केवल एक ही मुद्दे को लेकर विवाद है कि सम्पत्ति पर नियंत्रण किसका हो, व्यक्ति का या राज्य का। साम्यवाद राज्य का नियंत्रण चाहता है और पूँजीवाद व्यक्ति का नियंत्रण चाहता है, इसलिये अपने मौलिक रूप में ये दोनों विचारधाराएँ भौतिकवादी हैं।

दरअसल उपाध्याय की चिन्ता का एक और कारण भी था। उस देश में जहाँ विचार भिन्नता के चलते अनेक जीवन दर्शन विकसित हुये, षटदर्शन पल्लवित हुये, वहाँ अंग्रेजों के चले जाने के बाद भारत के विकास के लिए किस जीवन दर्शन को आधार बनाया जाये ताकि देश का विकास उसकी अपनी प्रकृति के अनुरूप हो सके, इस पर किसी ने विचार ही नहीं किया। जिन्होंने विचार किया, वे विदेशी विचार सारणियों के पिछलग्गू बन गये और उन्हीं विचारधाराओं को आधार बनाकर हिन्दुस्थान के विकास के सपने देखने लगे। ये विचारधाराएँ विदेशी समाजों के लिए गुणकारी हो सकती थीं, लेकिन भारतीय जनमानस के अनुकूल नहीं थीं। कुछ राजनैतिक दलों के लिये विचारधारा का प्रश्न ही गौण हो गया। जिन राजनैतिक दलों ने किसी विचारधारा को अपना राजनैतिक दर्शन घोषित भी किया, उसके लिये भी वह घोषणा एक नारे से ज्यादा महत्व नहीं रखती थी। दीनदयाल जी के अपने शब्दों में ही, ''समय-समय पर कांग्रेस या दूसरे दलों के लोगों ने कल्याणकारी राज्य, समाजवाद, उदारमतवाद आदि का ध्येय अवश्य घोषित किया है, विविध नारे लगाये हैं, परन्तु जितने नारे लगाने वाले

हैं। आंशिक तौर पर ये निष्कर्ष ठीक हो सकते हैं, परन्तु मानव मन को समझने के लिये यह तरीका ही ठीक नहीं हैं। यह चार अन्धों द्वारा हाथी को समझने का प्रयास ही कहा जायेगा। यह एकांगी पद्धति है। मानव मन को उसकी समग्रता में ही समझना होगा, परन्तु पश्चिम के चिन्तक इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं।

किसी भी चीज को समझने के लिये, चाहे वह प्रकृति हो चाहे मानव, पश्चिम की यह खण्डशः पद्धति है। यह पद्धति स्वयं ही दूषित है, इसलिये इसके निष्कर्ष भी दूषित हैं। पश्चिम ने मानव शास्त्र के जितने सिद्धांत गढ़े वे सभी किसी एक कारक को ही प्रमुख मानकर ही गढ़े गये। पूंजीवाद और साम्यवाद की अवधारणाएं वस्तुतः भौतिक कारकों को आधार बनाकर गढ़ी गई। कुछ साल पहले चैक गणराज्य की राजधानी प्राग में तिब्बत पर हो रहे एक अन्तराष्ट्रीय सम्मेलन में चैक के पूर्व राष्ट्रपति जॉन हावेल ने कहा था कि हमने तो पूंजीवादी और साम्यवादी दोनों व्यवस्थाओं को देख लिया है। दोनों व्यवस्थाए ही मूलतः अर्थवादी हैं और एकांगी हैं। जॉन हावेल शायद अप्रत्यक्ष रूप से दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानववाद का ही समर्थन कर रहे थे जो कम से कम एकांगी नहीं एकात्म और समग्र है। इन अवधारणाओं और सिद्धांतों से जिस प्रकार का नुकसान हो सकता था, पश्चिम उसको भोग रहा है। साम्यवादी और पूँजीवादी व्यवस्थाओं के विकास ने जिस आर्थिक व्यवस्था को पैदा किया वह वास्तव में ज्यादा उपभोग पर आधारित है, जरूरतों पर नहीं, इसीलिये यह व्यवस्था प्रकृति के लिये विनाशकारी सिद्ध हो रही है। दीनदयाल उपाध्याय ने इसकी ओर संकेत किया है। उनके अनुसार, ''लोगों के भरण पोषण के लिये, जीवन के विकास के लिये और राष्ट्र की धारणा एवं विकास के लिये जिन मौलिक साधनों की आवश्यकता होती है, उनका उत्पादन अर्थव्यवस्था का लक्ष्य होना चाहिए। न्यूनतम मर्यादा के बाद और अधिक समृद्धि व भोग के लिये अर्थोत्पादन करना चाहिए या नहीं, यह स्वाभाविक प्रश्न पैदा होता है। पश्चिम का अर्थशास्त्र तो इच्छाओं को बराबर बढ़ाते जाना और उनकी निरन्तर पूर्ति करना ही अभीष्ट समझता है। इस विषय में इनकी कोई अधिकतम मर्यादा नहीं है। सामान्यता तो पहले इच्छा पैदा होती है और फिर उसकी पूर्ति के साधन जुटाये जाते हैं, किन्तु अब तो हालत यह हो गई है कि पैदा करने के स्थान पर पैदा किये गये माल के

और काम की साधना तो मनुष्य करेगा ही, लेकिन इन दोनों क्षेत्रों में कर्म करने के लिए धर्म की सीमा रेखा का उल्लंघन न हो, इसका सतत ध्यान रखना होगा।

एक बात और ध्यान में रखनी होगी कि सभी प्रकार के पुरुषार्थों की साधना करते हुए मानव जीवन का कोई न कोई लक्ष्य भी होना चाहिए। भारतीय चिन्तकों ने इसी लक्ष्य को मोक्ष कहा है। व्यष्टि से समष्टि और समष्टि से परमेष्टि तक की यात्रा। ऐसा नहीं कि पश्चिमी चिन्तकों ने मानव जीवन की इन आवश्यकताओं पर ध्यान न दिया हो, लेकिन पश्चिम का चिन्तन मूलरूप में खंडित चिन्तन है। वह चिन्तन धर्म साधना, अर्थ साधना, काम साधना और मोक्ष साधना को एक दूसरे से अलग मान कर चलता है। इसी के कारण खंडित जीवन दर्शन का विकास होता है। उससे जो सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाएँ विकसित होती हैं, वे भी एकांगी और असंतुलित हो जाती हैं। आधुनिक जीवन की समस्याएँ इसी खंडित और एकांगी दर्शन से पैदा हुई हैं। दीनदयाल उपाध्याय का कहना था कि भारतीय जीवन दर्शन इन चारों पुरुषार्थों की समन्वित साधना का नाम है और यही एकात्म मानव दर्शन है।

लेकिन इन चार पुरुषार्थों में से कम से कम धर्म और मोक्ष को लेकर बहुत भ्रम फैला हुआ है। दीनदयाल जी ने इस भ्रम निवारण का प्रयास भी किया। दरअसल इस भ्रम निवारण के बिना एकात्म मानव दर्शन को सही परिप्रेक्ष्य में समझा ही नहीं जा सकता। यूरोपीय भाषाओं के अनुवाद में धर्म को रिलीजन मान लिया गया है। ज्ञान के क्षेत्र में यही हिमालयी भूल है। रिलीजन का अनुवाद भारतीय भाषाओं में पंथ, मत, सम्प्रदाय या मजहब हो सकता है। धर्म की भारतीय अवधारणा को समझने के लिए यूरोपीय भाषाओं में क्या शब्द हो सकता है? यथार्थ अनुवाद के लिए शायद वहाँ कोई शब्द दिखाई नहीं देता। निकटस्थ शब्द कर्तव्य हो सकता है। इसमें नियम को भी समाविष्ट किया जा सकता है। नियम आयेगा तो विधि या कानून भी आ जायेगा। ये सभी अवधारणाएँ सम्मिलित रूप में धर्म को समझने में सहायता कर सकती हैं। इसी प्रकार मोक्ष का अर्थ इस संसार से भागना नहीं है, बल्कि उस अनन्त रहस्य की खोज में लगना है। इसी खोज से ज्ञान वृद्धि होती है, इसलिए धर्म और मोक्ष की अवधारणा को सही पृष्ठभूमि पर समझने से ही पुरुषार्थ चतुष्ट्य के दर्शन को समझा जा सकता है।

एकात्म की अवधारणा को समझाने के लिए दीनदयाल जी संबधों का

एकात्म मानववाद की आधार परिवार संस्कृति

प्रो0 गिरीश चन्द्र त्रिपाठी[1]

एकात्म मानववाद का विषय भारत के दर्शन से जुड़ा है। जीवन और जगत के उस दृष्टिकोण से जुड़ा है जिसके आधार पर भारत जगतगुरु के पद पर प्रतिष्ठित हुआ। हम उस दर्शन और दृष्टिकोण पर विचार करें उससे पूर्व वर्तमान जगत की कुछ समस्याओं पर विचार करना आवश्यक होगा। आज चारों तरफ अनेक ऐसे मुद्दे हैं जो बलात् हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं। हिंसा, शोषण, भेदभाव, अराजकता इनके मूल कहां स्थित हैं? हिंसा क्यों होती है? हिंसा की शुरुआत यहां से होती है कि एक मैं हूँ और एक दूसरा है। यह भावना हर जगह दिखाई देती है। इस द्वंद में कभी हम स्त्री और पुरुष के रूप में, कभी नियोक्ता और कर्मचारी के रूप में और कभी विचारधाराओं के रूप में, अपने और पराये के रूप में खड़े हो जाते हैं। मैं इस विचारधारा को मानता हूँ और दूसरा इस विचारधारा को मानता है, इस द्वंद के द्वारा ही देश और समाज हिंसा ग्रस्त हुआ है।

भारतीय मनीषा ने जगत के रहस्य का साक्षात्कार करके यह बताया कि यह सम्पूर्ण सृष्टि परमात्मा की विग्रह है। फिर इससे जो विचार सृजित हुआ वह **''अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम, उदारचरितानामतु वसुधैव कुटुम्बकम''**। उदार चरित्र के लोगों के लिए सम्पूर्ण धरती

---

[1]कुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा दीनदयाल उपाध्याय जन्मशताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ के तत्वावधान में महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी में दिनांक 11 फरवरी 2016 को दिया गया व्याख्यान।

कारण ही भोजन करते समय इन सबके अंश निकाले जाते थे। यह एकात्म मानववाद का विचार केवल विचार तक ही सीमित नहीं था। यह हमारी संस्कृति और हमारे जीवन का हिस्सा था। भोजन करते समय व्यक्ति यह विचार करता था कि बाहर कोई व्यक्ति भूखा तो नहीं है।

हमारे यहां किसान जब भूमि पर हल रखता था तो भूमि को प्रणाम करता था। व्यवसायी जब अपनी रोजी-रोटी के लिए दुकान पर जाते थे तो वहां पर पूजा करते थे। यह संस्कृति किसी एक स्थान पर नहीं थी, अपितु कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक और गंगोत्री से लेकर गंगासागर तक यह संस्कृति प्रवाहित थी। हम लोगों को बाजार की दृष्टि से नहीं देखते थे। सबको अपने जैसा महत्व देते थे। हम हरे वृक्षो को नहीं काटते थे, नदी-नाले के जल को गंदा नहीं करते थे। अब इन सबके लिए कानून बनाना पड़ रहा है। हर चीज के लिए कानून बनाना पड़ रहा है, क्योंकि बाजार संस्कृति बिना कानून के नहीं चल सकती और परिवार संस्कृति में कानून कम से कम होते हैं। हमारी संस्कृति में एक अवस्था यह थी कि 'न राज्यं न च राजासित न दाण्डयम् न च दाण्डिकः। धर्मणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परं।।

न कोई राज्य था, न कोई राजा था, न कोई दण्ड था, न कोई दण्ड देने वाला था। सभी लोग परस्पर धर्म के द्वारा संचालित होते थे। आज संकट क्यों आया, क्योंकि हमें अपने को छोड़ कर किसी अन्य पर विश्वास नहीं है। आज एक देश के अन्दर अनेक देश खड़े हो गये। यह उसी बाजार संस्कृति की देन है। बाजार संस्कृति की यह देन है कि हम अपने माता-पिता को वृद्धाश्रम में रखना चाहते हैं।

आज हमे जीवन धर्म समझने की आवश्यकता है। केवल अर्थ के लिए और बाजार के लिए जीना ही जीवन का धर्म नहीं है। गीता धार्मिक ग्रन्थ है, परन्तु इस अर्थ में धार्मिक ग्रन्थ है कि वह हमे जीवन धर्म की शिक्षा देती है, जीवन क्या है यह हमें बताती है। युधिष्ठिर के पास धर्म से सम्बन्धित कोई प्रश्न आया तो उन्होंने कहा कि शर शैय्या पर पड़े भीष्म के पास चले जाओ, भीष्म मूर्तिमान धर्म हैं। अब कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति जो अधार्मिकों के लिए युद्ध कर रहा था वह धर्म का विग्रह है। भीष्म

एकात्म मानव दर्शन की पृष्ठभूमि में प्रामाणिक अनुसंधानों के प्रकाश में भारतीय दृष्टि से नीतियों का निर्धारण आज की महती आवश्यकता है। इससे ही भारत का उज्ज्वल भविष्य साकार हो सकेगा।

'अशोक सिंहल'

अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ

महावीर भवन, 21/16, हाशिमपुर रोड, टैगोर टाउन, इलाहाबाद-211002
फोन एवं फैक्स : 91-532-2466563, मो0 919453929211
E-mail : nationalthought@gmail.com

अभ्युत्थानं सर्वस्य

Price : ₹ 100/-

978-81-931312-3-7